THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180138

UNIVERSAL
LIBRARY

HINDII

Prathama Khan´d´a

सुभाषित संग्रह

प्रथम खंड

ÁNANDAMÚRTI

OUP -24-4-1-69-5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H888 A535 Accession No. 1

Author आनन्दमूर्ति

Title सुभाषित संग्रह · 1957

This book should be returned on or before the date l

मूल्य— दो रुपए

प्रकाशक

श्री विन्देश्वरी सिंह

प्रकाशन सञ्चालक (पब्लिकेशन मैनेजर)

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ

पो० — जमालपुर

जिला — मुंगेर

ग्रन्थकार द्वारा सर्वस्वत्व संरक्षित।

मुद्रक — श्री सीताराम झा द्वारा दि ओरिएन्ट प्रिंटिंग वर्क्स
जमालपुर मे मुद्रित।

सर्वश्री ब्रजमोहन, रामकुमार, शिवनारायण प्रभृति लोगों के सम्मिलित प्रयास से 'सुभाषित संग्रह' बंगला संस्करण का हिन्दी अनुवाद किया गया है।

प्रथम संस्करण चैत्र पूर्णिमा, १९५७ ई०

किसी भी महाचक्र में मैंने लिखित भाषण नहीं दिया है। मार्ग के उत्साही कर्मिगण ने हमारी कथा-वार्त्ताओं को यत्नपूर्वक लिपिबद्ध कर रखा था। आज उन्हीं लोगों के आग्रह और मिलित प्रचेष्टा से यह संग्रह पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई है। इसका श्रेय भी उन्हीं लोगों को है।

सुभाषित-संग्रह ग्रन्थ (बंगला संस्करण) में वर्गीय ब (ব, Ba) अक्षर का भी आवश्यक क्षेत्र में व्यवहार करने की चेष्टा की गई है। संस्कृत भाषा की कोई अपनी लिपि नहीं रहने के कारण, अति प्राचीन काल से ही विभिन्न भारतीय लिपियों में यह भाषा लिखी जाती रही है, किन्तु बंगला भाषा में वर्गीय एवं अन्तस्थ व (ৱ, Va) का स्वतन्त्र लिखित रूप नहीं रहने के कारण उच्चारण निर्धारण में कुछ असुविधा होती है, यह बात सर्वजन स्वीकृत है। आशा करता हूँ कि ब (ব, Ba) अक्षर का व्यवहार करने से यह असुविधा दूर हो जायगी।

संस्कृत भाषा अजस्र रत्नों का आकर है। विश्व में सर्वाधिक प्रचारित भाषा की दृष्टि से अंगरेजी का जैसे पृथिवी में सर्वत्र समभाव से पठित वा व्यवहृत होना वांछनीय है, ठीक उसी तरह सूक्ष्म क्षेत्र में मनीषा के सम्यग् विकाश के लिए भी समस्त विश्व में संस्कृत भाषा का समान श्रद्धा-पूर्वक पठन-पाठन होना उचित है। अंगरेजी, जैसे आज विश्व मानव की साधारण सम्पत्ति है, किसी देश-विशेष की भाषा

नहीं, उसका व्यवहार करने मे जैसे किसी देश विशेष की मर्यादा पर चोट नहीं लगती, संस्कृत भी ठीक उसी प्रकार विदग्ध समाज का साधारण सम्पद् है। किन्तु संस्कृत भाषा के प्रचार में प्रधान बाधा उसकी व्याकरणगत एवं लिपिगत जटिलता है। हमने इस पुस्तक में दिखलाया है कि संशोधित रोमन लिपि में भी संस्कृत भाषा का ठीक-ठीक लिखा जाना सम्भव हो सकता है। रोमन लिपि के पक्ष में सब से अधिक सुविधा यह है कि यह पृथिवी के सब देशों मे सुपरिचित है। भारतीय वर्णमाला यद्यपि खूब ध्वनि-विज्ञान सम्मत है, किन्तु लिखने की पद्धति और लिपि अधिकांश क्षेत्रों में असुविधा उत्पन्न करती है। एकार, ओकार, औकार और युक्ताक्षर के बोझ मे केवल छात्रगण को ही कष्ट नहीं होता, बल्कि शिक्षक और मुद्राकार को भी उसी प्रकार असुविधा होती है। भारतीय लिपियों के साथ-साथ संशोधित रोमन लिपि को यदि संस्कृत लिखने के लिए स्थान दिया जाय तो आशा करता हूँ कि उससे संस्कृत का प्रचार त्वरित होगा। संस्कृत भाषा की मूल बनावट अविकृत रख कर इसके व्याकरण की जटिलता कम की जा सकती है या नहीं उस पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है।

आनन्दपूर्णिमा
१९५६

निवेदनमिति
ग्रन्थकार

रोमन संस्कृत

विभिन्न भाषाओं का ठीक-ठीक उच्चारण करने के लिए एवं द्रुतलेखन की प्रयोजनीयता को समझ कर निम्नलिखित पद्धति में रोमन संस्कृत वर्णमाला का प्रवर्त्तन किया गया है।

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ
ऽ	ा	ि	ी	ु	ू	ृ	ॄ
a	ā	i	ii	u	ū	r	rr
ऌ	ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
ॢ	ॣ	े	ै	ो	ौ	ं	ः
lr	lrr	e	ae	o	ao	aṁ	aḥ
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज
क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज
ka	kha	ga	gha	u̇na	ca	cha	ja
झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	
झ	ञ	ट	ठ	ड	ढ	ण	
jha	i̇na	ṭa	ṭha	ḍa	ḍha	ṇa	
त	थ	द	ध	न	प	फ	ब
त	थ	द	ध	न	प	फ	ब
ta	tha	da	dha	na	pa	pha	ba

म	म	य	र	ल	व
ভ	ম	য	র	ল	ব
bha	ma	ya	ra	la	va

श	ष	स	ह	क्ष
শ	ষ	স	হ	ক্ষ
sha	ś a	sa	ha	kś a

अँ	ज्ञ	ऋषि	छाया	ज्ञान
অঁ	জ্ঞ	ঋষি	ছায়া	জ্ঞান
an	jina	rśi	chaya	jina na

संस्कृत	ततोऽहं
সংস্কৃত	ততোঽহং
samskrta	tato'ham

Ananda Marga Pracaraka Samgha

a ā b c d ḍ e g h i j k l m ṁ n ṅ n o

p r s ś t t̤ u ū v y.

समग्र विश्व में बहुल प्रचारित रोमन लिपि के २६ अक्षर मात्र से संस्कृत भाषा का ठीक-ठीक उच्चारण किया जाना सम्भव है। इसमें युक्ताक्षर का भी झमेला नहीं है। अरबी, फारसी और अन्यान्य भाषाओं में f, q, qh, z प्रभृति अक्षरों का प्रयोजन रहता है, संस्कृत में नहीं।

शब्द के मध्य वा शेष में 'ड' और 'ढ' यथाक्रम 'ड़' और और 'ढ़' रूप में उच्चारित होता है। य (जहाँ य का उच्चारण 'इ अ' होता है) के समान वे भी स्वतंत्र वर्ण नहीं है। प्रयोजन के अनुसार अ-संस्कृत शब्द लिखने के समय rha और rhha व्यवहार किया जा सकता है।

सूचीपत्र

	विषय	पृष्ठा
१.	समाज का क्रमःविकाश	१
२.	प्रकृति तत्त्व और ऊँकार तत्त्व	१०
३.	कर्म और कर्मफल	३३
४.	साधना और मधुविद्या	४५
५.	आधार और आपेक्षिक सत्य	५८
६.	बृहत् का आह्वान	७१
७.	भक्तितत्त्व	८६
८.	साधना का रूप	१११
९.	जीवन की भित्ति	१२७
१०.	यज्ञ और कर्मफल	१३५
११.	ब्रह्म कृपाहि केवलम्	१५८

★

समाज का क्रमःविकाश

ब्राह्मी चित्त का चरम विकाश पाञ्चभौतिक सत्ता है। ब्राह्मी मन की कल्पना-धारा के प्रतिसंचर काल में यही पाञ्चभौतिक सत्ता ने जब उस विराट ज्ञाता पुरुषोत्तम की अलौकिक सत्ता का कुछ स्पर्श पाया था, तब उसमें प्राणों का स्पन्दन जग उठा और यही प्राण-चञ्चल सत्ता उस (ब्रह्म) की भास्वर दीप्ति से जितना अधिक उद्भासित होती चली उसमें उतनी ही मनन शक्ति जाग्रत होती गई, जो उसे आत्म-सचेतनता के पथ पर आगे ले गई। इसी मननशील जीव-समूह में जो सर्वश्रेष्ठ जीव है वह अपनी व्यष्टि-शक्ति को भी इस ब्राह्मी प्रति-संचरण गति के पथ से और भी त्वरित गति से ले जाने में सक्षम हुआ। इसी श्रेष्ठ जीव का नाम मानव वा मानुष अर्थात् मननशील हुआ।

मनुष्यों में भी सर्वत्र मननशीलता का विकाश समान

नहीं है, ऐसा कि दो मनुष्य भी एक तरह के नहीं हैं। काल की गति देखते हुए वर्त्तमान मनुष्य की अपेक्षा आदिम मानव में यह मननशीलता का कार्य कम था। आज से लाखों वर्ष पहले जिस समय ब्रह्मचक्र के धारा-प्रवाह में जिस प्रथम मानव-शिशु का जन्म हुआ था उसने इस पृथिवी को मानव के इतने निरापद आश्रय के रूप में नहीं पाया था। चारों ओर हिंस्र श्वापद और सरिसृप-सङ्कुल वनोभूमि, विराटाकार मांस-भोजी जीव-समूह अपने विकराल दंष्ट्रा को खोले चारों ओर अपने आहार की खोज में घूमते फिरते थे। आकाश से वर्षा तूफान, वज्र और उल्कापात के हाथ से बचने के लिए उनके पास माधुर्यमय घर का वातावरण नहीं था। मध्याह्न काल के शोले बरसाने वाले सूर्य का ताप उस शिशु की जीवनी-सत्ता के अङ्कुर को ही सुखा देने की चेष्टा कर रहा था। यही उसकी अवस्था थी। इसीलिए उस काल के मनुष्य ने अपने अन्तर्लोक के पथ पर जाने में, अपनी मननशीलता को उद्बोधित करने में कितना सुयोग पाया था? वह अपनी समस्त शक्तियों का उपयोग अपनी रक्षा के लिए कर रहा था—क्रूर प्रकृति के विरुद्ध अविश्रान्त संग्राम में। उस संग्राम के युग में, उस आदि मानव के समाज में, मूल्य था केवल जड़ शक्ति का, शारीरिक बल का। अतीत युग की उस पृथिवी पर उसने

देखा था कि जिसका जोर उसका मुल्क। किन्तु जहाँ उसने अन्यान्य सभी शक्तियों को अपने शत्रु-रूप में देखा था, वहाँ वह अकेला अलग रह कर रहना युक्ति-युक्त नहीं समझता था। इसीलिए एक दूसरे के पास आया था—छोटा छोटा दल, क्लान (*Clan*) अथवा गोत्र बनाया था, मिल-जुल कर संग्राम कर बचने के उद्देश्य से।

उस दैहिक-शक्ति के युग में जो सबसे अधिक शक्तिवान था वही उस गोत्र का नेता और समाज-पूज्य वीर बना (*hero*)। इस प्रकार पुरानी पृथिवी पर पहले पहल क्षत्र-प्रधान समाज व्यवस्था की प्रतिष्ठा हुई।

पृथिवी आगे बढ़ी। उस आदिम मनुष्य का सामाजिक गठन अपनी स्थितावस्था बचा रखने में समर्थ नहीं हुआ। उसने समझना शुरू किया कि केवल शारीरिक बल से काम नहीं चल सकता, शक्ति के पीछे बुद्धि का भी समर्थन चाहिये, जो बुद्धि इसकी शक्ति को नियमित करेगी, चालित करेगी और उसे प्रकृत समृद्धि का पथ दिखा देगी। जिस मनुष्य ने संघर्षण के द्वारा प्रथम अग्नि उत्पादन का आविष्कार किया, शीतक्लिष्ट रात्रि की हिमशीतल-मनुष्य-देह में उत्ताप का सुख-दायक स्पर्श जगा दिया, वह आदमी अपने शारीरिक बल के द्वारा नहीं बल्कि अपनी बुद्धि और गुण के द्वारा ही सभी लोगों में श्रेष्ठ हुआ। समाज ने उसको ऋषि कह

कर सिर पर चढ़ाया।

परवर्त्ती युग में इसी अग्नि की सहायता से वस्तु को दग्ध कर मनुष्य ने भक्ष्य पदार्थ को सुस्वादु और सुपाच्य बना डाला। इस प्रकार जिसने पहले अग्नि का व्यवहार सिखाया, वे भी ऋषि के रूप में माने गये। वे प्रथम ऋषि के उत्तर-साधक बने। नग्न मानव देह को ढँकने के लिए जिन्होंने कपड़ा बुनने की पद्धति का आविष्कार किया था, जिन्होंने मनुष्य के प्रयोजन के लिए गृह-पालित जीव-जन्तुओं के व्यवहार का आविष्कार किया था, माँ के दूध से वञ्चित शिशु के लिए जिन्होंने गाय के दूध की व्यवस्था दी थी, वर्त्तमान युग में अव-हेलित बैलगाड़ी का आविष्कार कर जिन्होंने प्रथम मानव के यान-वाहन की असुविधा दूर की थी, वे सभी ऋषि थे, वे सभी मानव-समूह के पालक-पिता थे। इसीलिए वे सभी श्रद्धेय, वरेण्य और स्मरण्य हैं। इन ऋषियों को जो नवीनता के उद्धारक थे क्षत्रिय समाज ने विप्र कह कर सिर पर चढ़ाया और उनको अशेष समादर दिया।

दिन आगे बढ़ा। बाहर की दुनिया से मनुष्य और भी घनिष्ट भाव से सम्पर्कित हुआ, वस्तुओं के व्यवहार को और भी अधिक सीखा अथवा उन सभी वस्तुओं को व्यवहार के योग्य बनाने के प्रयोजन में व्यस्त हुआ। स्वाभाविक नियम के अनुसार कुछ लोगों को इस गढ़ने

और बनाने के सांसारिक कार्यों में व्यस्त होना पड़ा। यह विषय-जीवी समाज वैश्य के नाम से परिचित हुआ।

स्वाभाविक नियमानुसार विप्र वा क्षत्रिय को अपना स्थूल अस्तित्व बचाये रखने के लिए धीरे-धीरे वैश्य के अधीन हो जाना पड़ा। कृषक के नहीं रहने से अन्न नहीं मिलता, तन्तुवाय (जुलाहा) के नहीं रहने से वस्त्र नहीं मिलता, लोहार, कुम्हार, चमार, आदि का प्रयोजन भी नितान्त आवश्यक था। इसीलिए धीरे-धीरे विप्र समाज ने और कोई दूसरी राह न देख कर वैश्यों की अधीनता स्वीकार कर ली।

जिनमें क्षत्रियत्व, विप्रत्व अथवा वैश्यत्व इन तीनों गुणों में से कुछ भी नहीं था, वह इनलोगों के आज्ञाकारी भृत्य के रूप में रह गये—इसी पर इन तीनों का शोषण समान और निर्मम रूप में चला। पृथिवी और आगे बढ़ी। उसके साथ-साथ सामाजिक गठन-विन्यास भी परिवर्त्तित होता चला। सृष्टि के धारावाहिक परिणति के अनुसार मनुष्य ने अर्थ का आविष्कार किया। क्रमशः यही अर्थ सुख भोग के उपकरण के रूप में परिणत हो गया। मनुष्य-मनुष्य में खींचा-तानी आरम्भ हुई क्योंकि जो जितना अधिक अर्थ संचय कर सकता है, वह उतना ही बड़ा धनवान बन जाता है। इच्छा करने से ही वह अधिक जमीन का मालिक बन

सकता है; इच्छा करने से ही वह अधिक से अधिक भोग की सामग्रियाँ प्राप्त कर सकता है। वैश्य-प्रधान समाज में वैश्य ही सबसे अधिक वित्तशाली हुआ और अस्तित्व रक्षा के उद्देश्य से बाकी सभी उसके कृपा-कटाक्ष पर निर्भर हो गये। यही वैश्य-प्रधान समाज व्यवस्था आज भी चल रही है। शोषण के फलस्वरूप ब्राह्मण और क्षत्रिय समाज शूद्रत्व में परिणत हो रहे हैं। स्वाभाविक है समाज में बहुसंख्यक धनवान व्यक्ति नहीं हो सकते। शूद्रों की संख्या अधिक होती है। ये ही शूद्र सम्मिलित होकर वैश्यों की प्रधानता नष्ट-भ्रष्ट करने पर तुले हैं। इसीसे आज शूद्र प्रधानता की सूचना मिल रही है। किन्तु क्या यह शूद्रों की प्रधानता ही अपरिवर्त्तित रहेगी? शूद्रों के हाथ में यदि समाज के नियंत्रण का भार चला जाय, तो जगत् की उन्नति और आत्मिक विकाश में क्या बाधा नहीं पड़ेगी? इसीलिये शूद्र-प्राधान्य के संग्राम के साथ-साथ मनुष्य समझ रहा है कि सचमुच में कल्याण-धर्मी समाज-व्यवस्था का रूप कैसा होना चाहिए? समाज में किसी की प्रधानता रहनी उचित नहीं है। एक की प्रधानता रहने पर बाकी का शोषण अवश्य होगा। इसलिए आनन्द-मार्ग एक भेद-रहित समाज चाहता है जिसमें सब किसी को समान सुयोग और समान अधिकार प्राप्त हो सके।

मनुष्य की अग्रगति के लिए सामञ्जस्यपूर्ण समाज व्यवस्था का प्रयोजन अत्यन्त अधिक है। कितने मेधावी विद्यार्थी अर्थाभाव के कारण पढ़ना-लिखना छोड़ने को बाध्य होते हैं, कितने बड़े शिल्पी परिस्थिति के दबाव में पड़कर अपनी असामान्य प्रतिभा के अङ्कुर को कुचलने को बाध्य हो जाते हैं। यह सब इसी समाज व्यवस्था के दोष के कारण। इस अवस्था को रहने नहीं दिया जा सकता। इस भेद-बुद्धि रूपी वया पक्षी के घोंसले को नोंच देना होगा। तभी मनुष्य मनुष्य-जाति को सामूहिक रूप से श्रेय के पथ पर आगे ले जा सकेगा। उसके पहले सम्भवतः दो चार व्यक्ति आत्मिक विकाश की चरम परिपूर्णता को प्राप्त कर सकेंगे; किन्तु सारी मनुष्य-जाति को द्रुत-गति से उसी परमास्थिति में पहुँचा देना बहुत ही कष्ट-साध्य होगा। स्थूल जगत् के उग्र घात-प्रतिघात बार बार उसकी दृष्टि को बहिर्मुख भोग्य वस्तुओं की ओर ले जाकर उसकी साधना में बाधा उत्पन्न करेंगे।

सुसामञ्जस्यपूर्ण समाज-व्यवस्था में कोई यश या अर्थ के लोभ में पड़कर पगले कुत्ते की भाँति दौड़-धूप नहीं करेगा। बहिर्जगत् का वातावरण मनःसाम्य अर्जन करने में सहायता देगा और उसके भीतर दारिद्र्य भी क्रमशः कम होता जायगा।

स तु भवति दरिद्रः यस्य आशा विशाला ।
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् कोदरिद्रः ॥

Sa tu bhavati daridrah yasya áshá vishálá
manasi ca parituśt'e ko'rthaván kodaridrah.

हे मनुष्य ! मनुष्य की जरूरतों को समझ कर समाज की व्यवस्था बनाओ । तुम अपने क्षुद्र, दलगत वा व्यक्तिगत स्वार्थ के मुखापेक्षी बन कर कुछ नहीं करो । कारण जो प्रचेष्टा खण्ड-भाव लेकर की जाती है और जिसमें ब्राह्मीभाव नहीं रहता है, वह टिकाऊ नहीं हो सकती । काल का कराल स्पर्श एक न एक दिन उसकी सारी सत्ता को ध्वस्त कर किस शून्य में मिला देगा वह तुम नहीं समझ सकोगे । किस प्रकार चलना होगा, क्या करना होगा, किस तरह रखना होगा अथवा तोड़ना होगा इसको जानने के लिए पुस्तक पढ़ने की आवश्यकता नहीं है । आवश्यकता है सच्चे प्रेम--भाव और सच्ची सहानुभूति के साथ जगत् के प्रत्येक प्राणी की ओर देखने की और उस अवस्था में तुम समझोगे कि तुम्हारा तोड़ना, बनाना, रखना उसी आनन्द-स्वरूप, आनन्दघन-सत्ता से स्पन्दित और विधृत है । इसी भक्ति और ज्ञान मिश्रित कर्म के द्वारा तुम अपने प्राण के प्राण को, अपने अन्तर के परम श्रेय को, उस परम सत्ता को जिसको तुमने अज्ञात भाव से अपने हृदय रूपी मणिमंजूषा में छिपा कर

रखा था खोज सकोगे ।

"सेइ आनन्द चरण पाते, षड् ऋतु जे नृत्ये माते
प्लावन वहे जाय धराते, वरण-गीति गंधेरे ।"

Sei ánanda caraṅ́a páte ś́ad ́rtu je nrtye mate
plávana vahe já ya dharáte varaṅ́a giiti gandhere.

[१९५५—ख्रीष्टाब्द--१ली जनवरी]

प्रकृति तत्त्व और ऊँकार तत्त्व

प्र करोति इति प्रकृति, अर्थात् प्रकृति का अर्थ है प्रकार सृजन करने वाली शक्ति। अनादि, अनन्त, अखण्ड ब्रह्म-सत्ता में मनुष्य-पशु, घट-पटादि की सत्ता का बोध प्रकृति के कारण ही होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस बहुधा-रूपायित भेदात्मक जगत् की सृष्टि के कारण-स्वरूप जो शक्ति क्रियाशीला है, उसी का नाम प्रकृति है।

पुरुष केवल ज्ञानसत्ता (*Consciousness*) है, कर्मशक्ति की सहायता के अभाव में किसी भी तरह उसका अभि-प्रकाश नहीं हो सकता। इसीलिए इस सृष्टिलीला के प्राङ्गण में सर्वत्र ही अर्थात् ध्वंस, निर्माण, रक्षा (स्थिति, पालन, संहार) सब के लिए इसी कर्मशक्ति या प्रकृति की उपस्थिति अपरिहार्य है। प्रकृति, अंगरेजी भाषा के नेचर (*Nature*) शब्द का पर्याय नहीं है। वस्तुतः नेचर प्रकृति के ही धर्म का नाम है। प्रकृति जो कुछ करती है, उसी को ही साधारण भाषा में नेचर (*Nature*) कहते हैं।

पुरुष केवल ज्ञान-सत्ता है। प्रकृति जो कुछ करती है, वह उसका ज्ञाता मात्र— साक्षीमात्र है। जहाँ ज्ञान शक्ति वा पुरुष प्रबल है, वहाँ प्रकृति अव्यक्ता (*Unmanifested*) है— उस अवस्था में कर्मशक्ति ज्ञानशक्ति में समाहित होकर रहती है।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि उसके लिए त्रिगुणयुक्ता शब्द व्यवहृत नहीं हुआ है अर्थात प्रकृति कहने से तीन गुणों के मिलित नाम वा मिलित अवस्था का बोध होता है। अभिव्यक्ति भेदानुसार ये तीनों गुण सत्त्व, रजः और तमः इन तीन नामों से परिचित हैं।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि गुण शब्द का अर्थ क्या है? गुण शब्द का अर्थ क्या विशेषण वा अंगरेजी का क्वालिटी (*Quality*) है? नहीं, ऐसा नहीं – गुण शब्द का सीधा-सादा दार्शनिक अर्थ बन्धनरज्जु,— बांधने की डोरी है। यहाँ अखण्ड पुरुषसत्ता जिसके द्वारा विशेष विशेष आकार में या भाव में बंधा हुआ है—वही गुण है। गुण का मोटा-मोटी अंगरेजी प्रतिशब्द टेन्डेन्सी (*Tendency*) है।

प्रकृति जहाँ पर अव्यक्ता है, वहाँ पर पुरुष सत्ता के विषय के रूप में कोई 'मैंपन का बोध' नहीं है, वहाँ कोई मानस-संवेदन भी नहीं है। पुरुष के ऊपर जहाँ पर प्रकृति के सत्त्व-गुण का प्रभाव वा बन्धन पड़

जाता है, वहाँ पर ही 'मैंपन का बोध' या 'मैं हूँ' का प्रकाश सृष्ट होता है। इसी प्रकाश वा अस्तित्व बोध को जगाना ही सत्त्वगुण का धर्म है। सत्त्वगुण के द्वारा अखण्ड पुरुषसत्ता मैंपन के बन्धन में सीमित या रूपायित हो जाती है। इसी नाम-रूप के बन्धन में बद्ध पुरुष (जिसका दार्शनिक नाम महत्तत्त्व है) स्वाभाविक नियमानुसार ज्ञातापुरुष से पृथक् प्रतीयमान होता है।

इस क्रियाशीला प्रकृति में साधारणतः कोई गुण अकेले (एकक भाव से) नहीं रहते हैं- जहाँ सत्त्व गुण है, वहाँ अवश्य ही रजः और तमः गुण के रहने की सम्भावना रह जाती है। इसे और भी स्पष्ट रूप से समझाता हूँ।

कार्य की चरम परिणति-स्थिरता या जड़ता ही तमोगुण का स्वभाव है। कार्य की परिणति के पहले कार्य करने की आवश्यकता है। यही कार्य करना वा क्रियाशीलता ही रजोगुण का स्वरूप है। अतएव जहाँ तमोगुण है, वहाँ रजोगुण अवश्य ही रहेगा। कार्य करने के लिये उसके पूर्व 'मैं' की उपस्थिति की आवश्यकता है। 'मैं' नहीं रहने पर कार्य कौन करेगा? इसलिए पूर्व ही कहा है- 'मैं' का अस्तित्व बोध जगाना सत्त्वगुण का कार्य है। इसी-लिए रजः गुण जहाँ पर है, वहाँ पर सत्त्वगुण भी अवश्य ही रहेगा। अतएव यहाँ पर यह कहना पड़ता है कि सत्त्वगुण के रहने से ही वहाँ पर रजः वा तमः गुण

के रहने की सम्भावना भी रह जाती है—वह रहे या न रहे। किन्तु तमः गुण के रहने से ही रजः और सत्त्व गुण अवश्य रहेंगे एवं रजः गुण के रहने से सत्त्व गुण अवश्य ही रहेगा।

सत्वगुण का लक्षण है, अस्तित्व बोध, सुखदान और लघुताबोध। रजः गुण का लक्षण है क्रियाशीलता—मैं को कर्मान्वित करते रहना और तमः गुण का लक्षण है कर्म का फल या परिणति का रूप परिग्रह करना।

यहाँ पर एक बात विशेष रूप से याद रखने की आवश्यकता है कि सत्त्व गुण का अर्थ निष्क्रियता नहीं है— निष्क्रियता तमोगुणी है, निष्क्रियता मृत्यु की प्रशान्ति है, प्रज्ञा की गभीरता नहीं है। जगत् की सभी वस्तुओं में सर्वदा रजः और तमः गुण का संग्राम चल रहा है— जब तक रजः गुण जीतता चलता है, तब तक सत्त्व का माधुर्यमय प्रकाश रहता है। एक पुष्प-कली की ओर देखो—जब तक वह विकसित हो रही है तब तक तुम देखोगे कि प्रतिक्षण ही वह विकसित होती जा रही है और उसका माधुर्यमय प्रकाश अर्थात् तमः और रजः के संग्राम में रज की जय सूचित हो रही है। किन्तु जब रजः शक्ति निःशेष हो जाती है, तब तम का प्राधान्य प्रतिक्षण वृद्धि-उन्मुख होता है। पुष्प शनैः शनैः मुरझा जाता है। सत्त्व का प्रकाश म्लान हो

जाता है एवं अन्त में तम की सर्वग्रासी क्षुधा उसको जड़ता में पर्यवसित कर देती है—अर्थात् उसकी मृत्यु हो जाती है। किशलय से पत्र, तत्पश्चात् पर्ण, उसके बाद पतझड़, शैशव से यौवन तत्पश्चात् वार्द्धक्य—सभी में युध्यमान् रजः – तमः की विचित्र अभिव्यक्ति है। यही हरि- हर का विग्रह है।

पुरुष के ऊपर प्रकृति के प्रभाव से मन की सृष्टि होती है। मन का धर्म चिन्तन करना है। मन जब सूक्ष्म से स्थूल की ओर जाते-जाते विषय में पर्यवसित हो जाता है तो उसको मानसिक विकर्षण या सञ्चर क्रिया कहते हैं और जब विषय से सूक्ष्मत्व की ओर जाते-जाते मैंपन में पर्यवसित होता है, तब उसको मानसिक आकर्षण वा प्रतिसञ्चर क्रिया कहते हैं। सञ्चर तमः प्रधान और प्रतिसञ्चर सत्त्व प्रधान है। सञ्चर जड़ भावात्मक और प्रतिसञ्चर चैतन्य भावात्मक है।

किन्तु इसी सञ्चर प्रतिसञ्चर क्रिया से अप्रभावित होकर जो पुरुषसत्ता इस कल्पनाचक्र के प्राणकेन्द्र में अवस्थित हैं— वही ज्ञाता मैं (आत्मा) है। यह कल्पना चक्र उनका ही विषय है— अर्थात् वे ही कल्पना कर रहे हैं। विराट पुरुष के ऊपर विराट प्रकृति के प्रभाव से जो विराट मन की सृष्टि होती है, उनकी सञ्चरकालीन चरमावस्था ही यह भेदात्मक या पञ्चभूतात्मक जगत् है। पुरुष को केन्द्र

बनाकर जहाँ पर सञ्चर और प्रतिसञ्चर क्रिया नहीं हो रही है, वहीं वह निर्गुण है। जो प्रकृति को माया या मिथ्या कहते हैं, वे भूल करते हैं। प्रकृति यदि मिथ्या है, तब कल्पना कैसे होती है? कल्पना की कल्पित वस्तु मिथ्या हो सकती है, किन्तु कल्पना की गयी है, वह तो सत्य है।

"य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्व्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति"॥

Ya eko jálavá niishata iishanniibhih
sarvá n lloká niishata iishaniibhih.
Ya evacka udbhave sambhave ca
ya etadviduramrtá ste bhavanti.

इस जगत्-लीला के पीछे एक विराट जादूगर हैं जिसने जगत् की सृष्टि की है एवं उसका नियंत्रण करता है। जो कुछ सृष्ट हुआ है या होगा, वास्तव में सब कुछ वे ही हैं। जो इस तत्त्व को जानते हैं, वे अमृतत्त्व को प्राप्त होते हैं।

"एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इँमाल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यं जनांस्तिष्ठते संचुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भूवनानि गोपाः॥

Eko hi rudro na dvitiiyá ya tasthurya
imá n lloká niishata iishaniibhih.
Pratyam janá mí stist hate sam cukopá ntaká le
sa mí srjya vishvá bhu vaná n i gopá h.

"एक परम ब्रह्म ही हैं, दूसरी कोई सत्ता नहीं है।

इस परिदृश्यमान जगत् को वे अपनी प्रकृति द्वारा नियंत्रित करते हैं। प्रलयकाल में समस्त सृष्ट वस्तुएँ उसी में लय हो जाती हैं। इस जगत् की सृष्टि कर उन्होंने अपने को इस जगत् में ही छिपाकर रखा है।"

जो ज्ञाता पुरुष हैं उसी को अक्षर पुरुष कहते हैं। कारण, वे अपने स्वरूप से विच्युत नहीं हुए हैं (वे अच्युत हैं) पुरुष का जो अंश सञ्चर और प्रतिसञ्चर काल में इस ज्ञाता पुरुष के विषय में अर्थात् मन में रूपान्तरित हो जाता है, वही क्षर पुरुष हैं। यदि व्यष्टि (*Unit*) पुरुष को अक्षर और व्यष्टि मन को क्षर पुरुष कहें, तब सगुण ब्रह्म को समष्टि अक्षर और समष्टि क्षर कहना पड़ता है। इस समष्टि मन को अणुमन में परिणत करके और उस अणु-मन-समूह के ज्ञाता के भाव में अणुपुरुष सृष्टि करने के पीछे लीलामयी प्रकृति का रचना-विन्यास ही है।

"सर्वरूपमयी देवी सर्वं देवी मयं जगत्।
ततोऽहं विश्वरूपां ता नमामि परमेश्वरीम्।"

Sarva rūpamayii devii
sarvam devii mayam jagat.
Tato'ham vishvarūpám
tám namámi parameshvariim.

वह जगत् देवी का ही (प्रकृति का ही) रूप है। जगत् में जो कुछ भी देखते हैं, वह देवीमयी है। उसी

विश्वरूपधारिणी देवी को, जगज्जननी को प्रणाम करता हूँ। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि इस प्रकृति की उत्पत्ति कैसे हुई थी। प्रकृति मन की सृजनकारिणी है, अर्थात् पुरुष के ऊपर प्रकृति के प्रभाव से ही मन की सृष्टि हुई है। काल-ज्ञान मन ही का धर्म है। मन नहीं रहने से कालज्ञान नहीं रहता है। काल-परिमापक या काल-स्रष्टा मन को प्रकृति ने ही सृष्ट किया है। इसीलिए प्रकृति का उद्भव काल के बाहर है— वह कालातीता है, अजन्मा है, अजा है।

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाम्।
अजोह्येको जुषमानोऽनुशेते जहात्येणां भुक्तभोगामजोऽन्य ॥"

Ajámekám lohitashukla krsnám
bahviih prajáh srjamánám svárupám.
Ajohyeko jusamáno'nushete
jahátyenám bhuktabhogámajo'nya.

प्रकृति स्वयँ जन्मरहिता है, समस्त सृष्ट-सृजनकारिणी शक्ति प्रकृति, स्वयँ अजा है, वह स्वयँ लोहित, श्वेत और कृष्ण वर्ण की है अर्थात् वह त्रिवर्णात्मिका है। सत्त्वगुण श्वेत, रजोगुण रक्त और तमोगुण कृष्ण वर्ण है। विभिन्न प्रकार की वृत्तियों के अनुसार मानस-देह में वह वर्ण-समूह प्रकट हो उठता है। जिसकी जैसी वृत्ति है उसका वैसा ही वर्ण है। याद रखना होगा कि यह वर्ण मन का, स्थूल

देह का नहीं है। परवर्त्ती काल में सुविधावादियों ने जन्म-गत कारणों से जिस जातिभेद प्रथा की सृष्टि की थी, उसके साथ इस प्रकृत वर्णाश्रम का कोई सम्पर्क नहीं है। पूर्व ही कह चुका हूँ कि ब्रह्म की आकर्षणी-शक्ति या प्रति-सञ्चर सत्त्वगुण प्रधान है और विकर्षणी-शक्ति वा सञ्चर तमोगुण प्रधान है। प्रतिसञ्चर जीव को आत्मिक-स्थिति की ओर ले जाता है और उसके क्षुद्र-मानस के महत्तत्त्व को विराट मानसिकता के भूमात्व में मिला देता है। इसी-लिए अन्तर्दृष्टिसम्पन्न मनुष्य अन्तर्लोक की साधना में जब दुर्वारगति से आगे चलते हैं, तब वे पहले सत्त्व-गुण की सहायता लेते हैं और देखते हैं कि उनका चिदाकाश निरञ्जन, शुभ्र ज्योति से क्रमशः उद्भासित हो उठता है। इस मानसिक शुभ्रता की निष्कलुषता उनकी बहिःकरणिक क्रियाओं में भी प्रकट हो उठती है। अतः सात्त्विक जितनी भी चेष्टा क्यों न करें, अपने को छिपा रखना उनके लिए सम्भव नहीं है। ठीक उसी प्रकार रजः और तमः गुण के साधक भी जनसाधारण के समीप अपना परि-चय छिपा कर नहीं रख पाते हैं। रजोगुणी के रक्त वर्ण की गभीरता ही कृष्ण वर्ण में पर्यवसित होती है और आध्या-त्मिक साधकों का रजः गुण सात्त्विक पवित्रता का शुभ्र-चन्दन बन भास्वर हो उठता है।

किन्तु साधना की जो परमागति है उस निर्गुण-ब्रह्म

सत्ता में प्रकृति की कोई क्रिया नहीं है। अतः निर्गुणब्रह्म वर्णातीत हैं और निर्गुण ब्रह्म के साधक भी वर्णातीत होने के लिए साधना में प्रवृत्त हुए हैं। सर्वभेद-रहित-निर्गुण-ब्रह्म जिनकी परमागति है, वे यदि आरम्भ से ही बहिःकरणिक तथा अन्तःकरणिक भेद त्याग नहीं करेंगे तो कैसे काम चलेगा ? इसीलिए आनन्दमार्गियों की कोई जाति नहीं है। वे मनुष्यों द्वारा निर्मित कष्ट-कल्पित मिथ्या श्रेणी-विभाग को नहीं मानते। यह श्रेणी-विभाग प्रत्यक्ष एवं परोक्ष भाव से तमोगुणी प्रकृति को ही हृदय के अन्तस्तल में सुदूर प्रसारी मूल के विस्तार में सहायता करेगा।

"वर्णाश्रमाभिमानेन श्रुतिदास्ये भवेन्नरः।
वर्णाश्रमविहीनश्च वर्त्तते श्रुति मूर्द्धनि॥"

Varńá shramá bhimá nena
shrutidá sye bhavennarah.
Varńá shramavihiinashca
vartate shruti mu´rdhańi.

वर्णाश्रम का अभिमान लेकर रहने से मनुष्य श्रुति का दास बन जाता है, त्रिगुणों के अधीन हो जाता है। जिन्होंने वर्णाश्रम का त्याग किया है, वे श्रुति के शीर्ष-देश पर स्थान प्राप्त करते हैं।

आनन्द-मार्ग के बच्चे, बच्चियो ! तुमलोगों को वर्णाश्रम से ऊपर उठना होगा, गुणातीत होना होगा। तुमलोग

शुभ्रवर्ण विप्र, रक्तवर्ण क्षत्रिय, रक्त-कृष्ण-वर्ण (पीतवर्ण) वैश्य या कृष्ण-वर्ण शूद्र होने की कामना न करो। तुमलोगों को इन सब के ऊपर उठना है। गुणातीत होने के लिए-पुरुष की भावना लेनी होगी— अपनी वृहत् सत्ता का मनन करना होगा और अपने निज-स्वरूप को पहचानना होगा। अवश्य ही पहले शुक्लवर्णाश्रयी विप्र बनना होगा, तत्पश्चात् विप्रत्व को भी त्याग करना होगा और अवर्णसत्ता पुरुष में स्थित होना होगा।

"दैवीह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्तिते।" (गीता)

Daevihyeśá guńamayii
mama máyá dúratyayá
Máméva ye prapadyante
máyámetáṁ tarantite. (*Gitá*)

हमारी दैवी माया, परामया, पराशक्ति त्रिगुणात्मिका है, इसको अतिक्रमण करना कष्टकर है। किन्तु जो अपने को मुझ में लीन करते हैं--जो मुझमें आश्रय लेते हैं, वे ही इस प्रकृति को अतिक्रमण कर सकते हैं।

यह स्पष्ट रूप से समझा जाता है कि ब्रह्म प्रकृति के सत्त्व गुण की सहायता से जीवों की मुक्ति का कारण होता है, जब वे प्रतिसञ्चर द्वारा जगत् को अपनी ओर खींच लेते हैं। अतः प्रकृति मुक्तिदायिनी है--

यह बात परम सत्य है। किन्तु जीव को पुरुष की साधना करनी होगी, प्रकृति की नहीं। कारण, उसको आखिर तक परम-प्रज्ञा में स्थित होना है, निर्गुणत्व अर्जन करना है। प्रकृति-प्रभावमुक्त, अक्षय, अव्यय चिदूस्वरूप पुरूष ही उसकी परागति है। प्रकृति के पाशों से बद्ध जीव तो वहाँ नहीं पहुँच सकता है। इसीलिए कातर स्वर में तन्त्रसाधक कहते हैं—

"त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या विश्वस्य बीजं परमाऽसि माया।
सम्मोहितं देवी समस्तमेतद् त्वंवै प्रसन्ना भूवि मुक्ति हेतुः॥"

Tvam vaeśńavii shaktiranantaviiryá
vishvasya biijam paramá'simáyá .
Sammohitam devii samastametad tvamvae
prasannā bhūvi mukti hetuh .

हे प्रकृति, तुम्हीं अनन्त विष्णुमाया हो, तुम्हीं विश्व-बीज हो, विश्व का कारण हो, तुम्हीं परमामाया-परमा प्रकृति हो, तुमने ही इस समग्र सृष्ट जगत् को सम्मोहित (*Hypnotised*) करके उसको पाश और रिपु के अधीन कर रखा है। तुम्हारे प्रसन्न होने पर ही मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

इसीलिए कहा था कि प्रकृति की साधना नहीं, करनी होगी पुरुष की साधना। प्रकृति की साधना मनुष्य को जड़त्व की ओर ले जावगी। क्षुद्र 'मैंपन'

की स्वार्थ--सिद्धि के प्रयास में वह अनजाने ही अपने पाश को यत्नपूर्वक दृढ़ करता जायगा।

व्यक्त (*Manifested*) प्रकृति में भारसाम्य नहीं है। सर्वदा ही संग्राम चल रहा है। हरि–हर के संग्राम के भीतर से सृजनी--शक्ति का उद्बोधन हो रहा है–ध्वंस के कंकाल का वक्ष नूतन की प्राणधारा से सिञ्चित हो रहा है। इस प्रकृति को मनुष्य का शत्रु कहना ठीक नहीं। मनुष्य इसके त्रिगुणों का यथायथ व्यवहार के द्वारा ले जा सकता है, निज को श्रेय की ओर, परमार्थ की ओर एवं पूर्णत्व की ओर। अपने चिदाकाश में प्रति--सञ्चरात्मिका प्रकृति के सत्त्वगुण के शक्ति–सम्पात द्वारा वह अपने को उपकृत कर सकता है। तो क्या प्रकृति कृपामयी नहीं है? स्वयं साधना नहीं करें और प्रकृति को दोष दें, इस क्लीवत्व को तुमलोग प्रश्रय मत दो।

प्रकृति और पुरुष ये क्या स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं? नहीं,—वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। दार्शनिक प्रश्नोत्तर के समय साधारण लोगों को समझाने के लिए ही इन दोनों शब्दों का व्यवहार अत्यावश्यक हो जाता है; किन्तु असल में उनका सम्बन्ध केवल अच्छेद्य ही नहीं अविनाभावी भी है, ठीक दूध और उसकी धवलता के समान, अग्नि और उसकी दाहिका--शक्ति की भाँति।

साधना में जब प्रकृति पुरुष में समाहित हो जाती

है, तब साधक को स्वरूप-स्थिति आती है। जबतक उसमें पुरुष और प्रकृति का भेद-भाव रह जाता है, तबतक वह अपने को क्षुद्र समझ कर सुख पाने की वृथा चेष्टा करता है, अपने को संस्कार के जाल में फँसाता जाता है।

"सत्यलोक निराकार महाज्योतिस्वरूपिणी।
मायाच्छादितात्मानं चनकाकाररूपिणी।
मायाबल्कलं संत्यज्य द्विधा भिन्ना यदोन्मुखी।
शिव शक्ति विभागेन जायते सृष्टिकल्पना॥" (तन्त्र)

Satyaloke nirákára mahajyotihsvarú pińi ii
Máyácchádita tmánam canakákararú pińi u
Maya balkalam samtyajya dvidha bhinná
y donmukhii
Shivashakti vibhágena jayate srstikalpaná.
(*Tantra*)

चने का जब तक अङ्कुर नहीं निकलता; तबतक उसके अभ्यन्तरस्थ दो दल एक भाव में ही प्रतीयमान होते हैं। किन्तु जैसे ही सृष्टि का अङ्कुर जमता है कि दो दल अलग-अलग हो जाते हैं। इसी तरह इस भेदात्मक जगत् में पुरुष-प्रकृति का भेद प्रकट है। शिवत्व की साधना में जितना आगे बढ़ोगे, देखोगे कि महाशक्ति सम्मोहिता होकर तुम्हीं में लीन होती जाती है। कैवल्य-स्थिति में इसीलिए दोनों सत्ताओं की उपलब्धि पृथक् भाव से नहीं होती।

"त्वमेको द्वित्वमापन्नो शिवशक्तिविभागशः"

Tvameko dvitvamápanno shivashaktivibhágashah.

वास्तव में तुम एक ही हो। केवल शिव और शक्ति इन्हीं दो भावों में प्रतीयमान हो रहे हो।

विराट् पुरुष की प्रकृति द्वारा सृष्ट विराटमन के प्रतिसंवेदन से ही इस स्थूल-सूक्ष्म कारणात्मक जगत् की उत्पत्ति हुई है। किन्तु पहले ही कह चुका हूँ—इस प्रतिसंवेदन के जो प्राण-केन्द्र हैं, जो विराट् अक्षर-पुरुष हैं, जो सर्वद्योतन के मध्यमणि हैं, उन्होंने अपने विषय-रूप में अपने विराट मनःसंवेदन को लिया तो है, किन्तु उनके असीम अनन्त ब्रह्म-शरीर के बाहर अन्य कोई दूसरी सत्ता नहीं रहने के कारण प्रकृति उनको कोई इन्द्रिय प्रदान नहीं कर सकती है और न कोई उनको दैशिक, कालिक, वैयक्तिक सीमारेखा दे सकती है। जिनके बाहर कुछ नहीं है, उनके लिए तन्मात्र ग्रहण-वर्जन करने का प्रश्न उठता ही नहीं है।

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः सशृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥"

Apáṅipádo javano grahiitá
pashyatyacakṡuh sashṅiotyakarṅah.
Sa vetti vedyam na ca tasyásti vettá
tamáhuragryam puruṡám mahántam (*Shruti*)

"श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचा ह्रिवाचो स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृताः भवन्ति ॥"
—(श्रुति)

Shrotrasya shrotram manso mano yadvácá
hivácо sa u pranasya pranah .
Caksusashcaksuratimucya dhiirah
pretyásmálloká damrtah bhavanti . (*Shruti*)

"यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धिनेदं यदिदमुपासते ॥" (श्रुति)

Yanmanasá na manute yena hurmano matam .
Tadeva Brahma tvam viddhinedam yadida--
mupásate . (*Shruti*)

"यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धिनेदं यदिदमुपासते ॥" (श्रुति)

Yaccaksusá na pasyati yena caksúmsi pasyati
Tadeva Brahma tvam viddhinedam yadidamu-
pásate . (*Shruti*)

प्रकृति के सत्त्वगुण की सहायता से साधक जब विराट्--अक्षर में समाहित होता है, जब उसका विश्वमन आलयीभूत होता है, तब उसको सविकल्प--समाधि कहते हैं । स्वाभाविक नियमानुसार साधक जब किसी सीमित क्षर को अपने विषयरूप में लेता है--जीवन के भिन्नि-

रूप में ग्रहण करता है–तब वह अनजाने ही तमोगुण की ओर, जड़ता एवं पशुत्व की ओर चला जाता है। तमोगुण ही जड़ता है। इस विचार के अनुसार रजोगुण को क्रियाशीलता (*inertia*) और सत्त्वगुण को सामञ्जस्य-पूर्ण-प्रकाश (*harmony*) कह सकते हैं।

इसके पूर्व कहा जा चुका है कि साधारणतः सभी वस्तुओं में तीनों ही गुण कम या अधिक मात्रा में काम करते हैं। उनमें से सत्त्वप्रधान को सात्त्विक, रजःप्रधान को राजसिक एवं तमःप्रधान को तामसिक कहते हैं। वस्तु-विशेष में जिस किसी गुण की प्रधानता क्यों न हो, देश, काल, भेद के कारण विभिन्न जीव एक ही वस्तु को विभिन्न भाव से ग्रहण करता है अर्थात् जगत् की प्रत्येक सत्ता एक ही अवस्था में किसी को प्रिय, किसी को अप्रिय और किसी के लिए निरपेक्ष होती है।

एक मनुष्य सत्त्वगुणसम्पन्न न्यायपरायण राजकर्मचारी है। शान्तिप्रिय नागरिकों के लिए वह सात्त्विक एवं प्रिय है। दुष्ट प्रकृति के व्यक्तियों के लिए वह तामसिक है, अतः अप्रिय है। वही कर्मचारी अपने इलाके के बाहर के व्यक्तियों के लिए रजोगुणी है, अतः निरपेक्ष है। कोई सुन्दरी नारी अपने पति की प्रिया है, अन्य पुरुषों के लिए निरपेक्षा है और अपनी सौत के लिए अप्रिया है।

सत्त्वगुणी सभी वस्तुओं में सत्त्वगुण को ही पहले देखता है। रजोगुणी-रजोगुण को और तमोगुणी तमोगुण को पहले देखता है। काशी जाने पर धर्मात्मा गंगा-तीर पर साधु महात्माओं का ही सत्संग करेगा और काशी को परम पवित्र स्थान कहेगा। एक पर्यटक नगर भ्रमण कर कहेगा--यह नगर भी अन्य नगरों के समान है। एक ठग कहेगा-यह नगर ठगने का उपयुक्त स्थान है। एक ही नगर को तीन व्यक्तियों ने अपने गुणानुसार तीन भाव से देखा।

तुमलोगों को सदा यह याद रखना होगा कि तुम्हें अन्तर्लोक में आगे बढ़ना है। सत्त्वगुण की सहायता से तमोगुणी-जड़ता के विरुद्ध संग्राम करना है। चित्त के सञ्चर भाव से सर्वदा दूर रहकर आगे बढ़ना है। कारण, वह (सञ्चर भाव) तुमको बाहर की ओर ढकेल देगा--स्थूलता के हाहाकार की ओर ढकेल देगा।

"आत्मस्थितं शिवं त्यक्त्वा बहिस्थं यः समर्चयेत्
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया।"

(शिवसंहिता)

Á'tmasthitam shivam tyaktvá
bahistham yah samarcayet
Hastasthaṁ piṇḍamutsrjya
bhramate jivitá'shayá'. (*Shiva saṁhitá*)

"इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः,
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मोक्षो वरानने ॥" (तन्त्र)
Idaṁ tiirthamidaṁ tiirthaṁ
bhramanti támasá janáḥ
Átmatiirthaṁ na jánanti
kathaṁ mokṣo varánane. (*Tantra*)

इसलिए बहिर्मुख मत होओ, अपने सर्वनाश की ओर मत जाओ, क्योंकि एक बार जड़ता में पर्यवसित होने पर लौट आने का पथ और भी दुर्गम हो जायगा। महा-तमिस्रा तुम्हें अपना ग्रास बना लेगी और तुम अपने जीवन के ध्रुवतारा को खो बैठोगे। जो मूर्त्ति-पूजा करते हैं, वे अज्ञात-रूप से तमोगुण की ही आराधना करते हैं। जो ब्रह्म, जीवों के अन्तर्लोक एवं बहिर्लोक को आलोकित कर सदा-सर्वदा वर्त्तमान हैं, उन्हें भूल कर, बहिस्थित क्षुद्र पुत्तली को ही अपना इष्ट समझ कर भूल करते हैं और उनका चित्त तदाकार प्राप्त होने से या उक्त चित्त-सृष्ट मूर्त्ति के मुख से जब वे अपने संस्कारानुयायी वाणी या प्रत्यादेश सुनते हैं तो समझ बैठते हैं कि मैं अपने लक्ष्य तक पहुँच चुका हूँ।

जड़ता के साधक क्रमशः शरीर और मन से जड़ हो जाते हैं। वे किसी भी प्रगति-मूलक आदर्श को सहन नहीं कर पाते। रजोगुणी की कर्म-तत्परता और सत्त्वगुणी

का शुद्धज्ञान दोनों ही इनके लिए असह्य है। ये घड़ी की सुई को उलटा घुमाना चाहते हैं। प्राचीनता का मोह, जड़ता की ही अभिव्यक्ति है। पुराणकार व्यासदेव ने कहा है—

"रूपं रूपविवर्जितस्य भवतोयद्ध्यानेन कल्पितं,
स्तुत्याऽनिर्वचनीयताऽखिलोगुरो दूरीकृता यन्मया।
व्यापित्वंच निराकृतं भगवतो यत्तीर्थ यात्रादिना,
क्षन्तव्यं जगदीशो तद्विकलता दोषत्रयं मत्कृतं॥"

Rúpaṁ rúpavivarjitasya
bhavato'yaddhyánena kalpitaṁ,
Stutyá 'nirvacanuiyatá 'khiloguro
dúrikrtá yanmayá.
Vyápitvaṁca nirákrtaṁ
bhagavato yattirtha yátrádiná,
Kṣantavyaṁ jagadiśho tadvikalatá
dos atrayaṁ matkrtaṁ.

तुमको रूप नहीं है। मैंने तुम्हें रूप देकर छोटा बनाने की चेष्टा की है! तीर्थ-माहात्म्य का प्रचार कर मैंने तुम्हारी सर्वव्यापकता में बाधा डालने का प्रयत्न किया है। स्तुति द्वारा मैंने तुम्हारी अनिर्वचनीयता को वाक्बद्ध कर डाला है। हे जगदीश! मेरी चित्त-विकलता-प्रसूत इन तीनों अपराधों को क्षमा करो। प्रकृति पुरुष को गुणान्वित करती है, एक भाव की रूप-रेखा देती है। यह जो गुणा-

न्वित करणात्मक क्रिया है, क्या यह पुरुष-देह में कोई स्पन्दन उत्पन्न नहीं करती ? अवश्य करती है। जहाँ क्रिया है, वहीं स्पन्दन है। अतएव प्रकृति के प्रभाव में युक्त पुरुष वा सगुणब्रह्म की क्षर-देह सर्वदा स्पन्दित होती रहती है। यह एक अनाविल अपूर्व महाजागतिक मूर्च्छना का स्पन्दन है। सभी जानते हैं कि स्पन्दन के तरंग-भेद के कारण ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि तन्मात्राओं का उद्भव होता है। जीवों की ज्ञानेन्द्रियाँ उनको बहिर्जगत् (ब्राह्मी-मन) से ग्रहण करती हैं और उनका अन्तःकरण कर्मेन्द्रियों की सहायता से उन्हें प्रकट करता है। इसी स्पन्दन-भेद के कारण सत्त्वगुण शुभ्रवर्ण की, रजोगुण रक्तवर्ण और तमोगुण कृष्णवर्ण की सृष्टि करते हैं।

जहाँ जितनी अधिक जड़ता है, वहाँ स्पन्दन भी उतनी ही मन्दीभूत है। इसीलिए तमोगुण का अभिप्रकाश कृष्णवर्ण है। कृष्ण कोई वर्ण नहीं है। वास्तव में वर्ण का अभाव रहने से ही कृष्णवर्ण अनुभूत होता है। ठीक इसी तरह श्वेत-वर्ण भी कोई वर्ण नहीं है। सब वर्णों का समन्वय ही श्वेतवर्ण है। इसीलिए जहाँ पूर्ण-प्रकाश है, वहीं सत्त्वगुण श्वेत-वर्णात्मक है। ठीक इसी प्रकार स्पन्दन के द्वारा सब से सूक्ष्म जिस तन्मात्र की सृष्टि होती है, वह है शब्द तन्मात्र। विराट्-ब्राह्मी-मन में उद्भूत शब्द तन्मात्र ही ऊँकार है। इसी ऊँकार के मध्य जागतिक सर्वध्वनियों का बीज निहित है। यह ध्वनि विराट्-अक्षर से उत्सारित

होकर विराट-अक्षर में ही लीन हो जाती है।

इसीलिए ऋषियों ने यह अभ्रान्त वाक्य कहा है—इसी ऊँकार को केन्द्र बनाकर निश्चय ही साधक उस विश्व-प्राण परम-पुरुष की उपलब्धि करेंगे।

ऊँकार का ही दूसरा नाम प्रणव है। प्रणव शब्द का अर्थ है—प्रकृष्ट रूप से उपासना। (प्र – नु + अल्, नु का अर्थ है—उपासना करना)

"प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥"

Praṇavo dhanuḥ śarohyātmā
Brahmatallkṣyamucyate.
Apramattena veddhavyam
Śaravattanmayo bhavet.

यही ऊँकार सभी मातृकावर्णों का बीज-मन्त्र है। यही ब्रह्म का वाचक और द्योतक है। इसीलिए इसको शब्द-ब्रह्म भी कहा जाता है। श्रुति कहती है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्तेपदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतद् (यजु)

Sarve vedā yadpadamāmananti
tapāṁsi sarvāṇi ca yadvadanti
Yadicchanto brahmacaryaṁ caranti
tattepadaṁ samgrahena braviimyomityetat.

"एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम् ।
एतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्यतत् ॥"
Etaddhyevá kśaraṁ Brahma
etadevá kśaraṁ param
Etadevá kśaraṁ jn̂átvá yo
yadicchati tasyatat.
"एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥"
Etadá lambanaṁ
Shreśt'hametadá lambanam param
Etadá lambanaṁ jn̂átvá
Brahmaloke mahiyate.

हे मनुष्य ! तुम ऊँकार के पथ पर से सूक्ष्मत्व की ओर आगे बढ़ो । तुम आपातमधुर तमोगुणी मरीचिका की ओर मत दौड़ो । सत्त्वगुण में प्रतिष्ठित होकर, तत्-पश्चात् ब्रह्म में लीन होओ । ऊँकार जहाँ से आया है, वहाँ पहुँचो । साधना और निष्ठा के द्वारा अपने सुप्त मनुष्यत्व को जगाओ । देवत्व की मनीषा का उद्बोधन करो और इस साधना-लब्ध शुचिशुभ्र-देवत्व को ब्राह्मी-महिमा के अखण्ड-स्रोत में विलय कर दो ।

उस परमास्थिति का अर्जन करो, जिसके लिए अनादि काल से तुम अनेक कष्ट भोगते हुए आगे बढ़े हो और आज अपने को मनुष्य कहकर परिचय देने का सुयोग पाए हो ।

(६ जनवरी १९५५)

कर्म और कर्मफल

सृष्टि-लीला कर्म द्वारा ही विधृत है। जहाँ प्रकाश है, वहीं स्पन्दन है और उस स्पन्दन के पीछे कर्मशक्ति भी है। जहाँ कर्मशक्ति निद्रित, स्तम्भित वा स्तब्धीभूत है वहाँ प्रकाश की तरंगें नहीं हैं और वहाँ प्राण का उच्छ्वल आत्म-विकाश भी नहीं है। पुरुष-सत्ता आनन्दघन अवस्था में स्थित है; मानों निर्वात, प्रशान्त महासागर हो। इस सागर का वक्ष जब वायु-वेग से आलोड़ित होता है तब उत्ताल तरंगमालाओं की सृष्टि होती है। इसी कारण जब अव्यक्त पुरुषसत्ता प्रकृति-रूपी झटिका-शक्ति के द्वारा प्रधावित होती है तब उसमें प्रकाश का विचित्र समारोह होने लगता है। यह लीलोच्छल, लीला-चञ्चल वैचित्र्य-पूर्ण जागतिक-विकाश उसी की स्थूल परिणति है। इस स्थूलत्व के पीछे जो सूक्ष्म कारण-सत्ता रह जाती है, वह भी पुरुष के ऊपर प्रकृति के प्रभाव का फल है।

पुरुष-सत्ता का जहाँ पर जितना कम विकाश है वहाँ प्रकृति का प्रभाव उतना ही अधिक है। इस विराट् प्रकृति

एवं विराट् पुरुष की अनन्त लीला-भूमि में, जिसको हमलोग सगुण-ब्रह्म कहते हैं, प्रकृति का बन्धन जितना दृढ़ है, उसकी अपेक्षा खण्डवस्तु-समूह में प्रकृति का बन्धन और भी दृढ़ दिखलाई पड़ता है। पत्थर का एक टुकड़ा क्या है ? यह पुरुष का एक खण्ड विकाश है जहाँ प्रकृति का तमोगुण अति प्रबल है और उसी के फलस्वरूप पुरुषरूपी चैतन्य-सत्ता जड़रूप में प्रतिभासित होती है। साधारण मनुष्य इस तमःप्रधान पुरुष को ही जड़ समझते हैं।

जड़ता वा चेतनता के आनुपातिक भेद के अनुसार वस्तुओं की संज्ञा निर्धारित की जाती है। वास्तव में इस परिदृश्यमान-जगत् में प्रकृति-बन्धनमुक्त सत्ता नहीं रहने के कारण सब वस्तुओं में तथाकथित जड़ता का सम्मिश्रण है। मनुष्य को हमलोग श्रेष्ठ जीव क्यों कहते हैं ? इसीलिए तो कि इसमें चैतन्य का विकाश व्यापक रूप में है। मनुष्य इस स्थूल-सत्ता की अपेक्षा सूक्ष्म-सत्ता के भीतर से ही आनन्द प्राप्त करना चाहता है। उसकी यह अनन्त क्षुधा उसे भूमानन्द की ओर ले जाती है। जिस व्यष्टि में चैतन्य सत्ता का सामान्यतम विकाश हुआ है अर्थात् सारा चैतन्य-जड़त्व में पर्यवसित नहीं हुआ है, उसमें आत्मविकाश की चेष्टा, सुख पाने की चेष्टा रहती है। इसी चेष्टा के कारण-स्वरूप प्रकृति में रजोगुण का प्रबल विकाश है।

अस्तित्व की रक्षा के हेतु स्थिर भाव में नहीं रहा

जा सकता है। कारण, स्थिरता मृत्यु का लक्षण है, जीवन का नहीं। अब प्रश्न उठ सकता है, जब सभी सत्ताओं में त्रिगुणात्मक विकाश है, तब वह क्या मृतदेह में नहीं है ? इसका उत्तर अत्यन्त ही सहज और सरल है। मृतदेह में तथाकथित जड़त्व के समस्त लक्षण रहते हैं। इसीलिए तो तीनो गुणों के अस्तित्व के रहने पर भी उसमें सत् और रज अस्फुट भाव में रहने के कारण तमोगुण प्रबल रूप में रहता है। अतः कर्मप्रचेष्टा वा कर्मैषणा नहीं रहती है। तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सर्व सत्ता में त्रिगुणात्मक अस्तित्व है, किन्तु गुणगत-मात्राभेद के अनुसार कहीं प्रकृति क्रियाशीला है, कहीं निष्क्रिया।

विज्ञान और न्यायशास्त्र के नियमानुसार प्रत्येक कर्म का प्रतिकर्म (*Reaction*) है और उसका परिमाप मूल कर्म के समान होता है। यह कर्म चाहे वस्तु-तान्त्रिक जागतिक क्रिया हो अथवा आन्तरिक संवेदन हो। एक दृष्टान्त देता हूँ— मानों तुमने हाथ मे चोरी की। यहाँ पर तुम इस चौर क्रिया के कर्त्ता हुए तो ? किन्तु मान लो, लोकापवाद या शासन के भय मे अपने हाथ मे चोरी न करके, तुमने दूसरे से चोरी करवाई वा तुमने मन ही मन चोरी की, यहाँ पर क्या तुम चौर्यक्रिया के कर्त्ता नहीं हुए ? अतएव यदि तुम समझते हो कि मन ही मन चोरी करने मे चोरी का फलभोग करना नहीं होगा तो यह तुम्हारी भूल है।

स्थूल वा सूक्ष्म दोनों प्रकार की क्रियाओं से जो तुम प्रति-कर्म का बीज वा संस्कार '(*Potentiality of the reaction*) अर्जन करते हो, उसको तुम्हें एक अन्य क्रिया के द्वारा भोग करना ही होगा। तब तुम देखते हो कर्मफल का भोग भी एक विशेष कर्म के द्वारा ही होता है। किन्तु इस प्रारब्ध भोग के हेतु दूसरी बार जो तुम कर्म करते हो, वहाँ स्वाधीन भाव से कोई कर्म करने की तुम्हारी क्षमता नहीं रहती है। तुम उस समय यन्त्रवत् परिचालित होकर ऐसा अशुभ कर्म भी कर बैठते हो जिसके फलस्वरूप तुम्हें अपमान, लांछना एवं क्लेश भोग करना पड़ता है। तुम अपने ही को धिक्कारते हो और कहते हो कि मैंने यह क्या किया ? उसके प्रतिकार के लिए तुम कुछ भी करने में असमर्थ हो जाते हो, मानों तुम्हारे हाथ-पैर बँधे हुए हों।

जब तक तुम परमब्रह्म से अपने को पृथक्-सत्ता समझते हो, "पृथक्-मैं" को ही लेकर व्यस्त रहते हो तब तक तुम्हें कर्म करते जाना होगा और कर्म के बीज-रूप संस्कार का अर्जन भी तुम्हें करना ही होगा। इस बीज को विकशित कराने के लिए तुम्हें नवीन शरीर चयन (आहरण) करना ही पड़ेगा अर्थात् जन्म के बाद मरण, मरण के बाद जन्म, इसके कर्म-चक्र में कोल्हू के बैल के समान तुमको घूमना ही होगा। मोक्ष वा मुक्ति दोनों ही तुम से दूर रहेंगे, तुम्हारी पहुँच के बिलकुल बाहर। "क्षुद्र

मैं" को आत्मा का विषय बना कर कोई भी कर्म क्यों न करते जाओ, वह तुम्हारी मुक्ति का ही कारण होगा, मुक्ति का नहीं।

"आसन मारे क्या हुआ, जो गई न मन की आस।
ज्यों कोल्हू के बैल को, घर ही कोस पचास॥"

कोल्हू का बैल क्या परिश्रम नहीं करता है? वह तो सारा दिन घूमता ही रहता है। परन्तु पचास कोस चलने पर भी वह जरा भी आगे नहीं बढ़ता; क्योंकि वह कोल्हू के स्तम्भ में बँधा रहता है। उसी तरह क्षुद्र मैं का भाव रखकर जो लोग काम करते हैं, क्या उन लोगों की दशा कोल्हू के बैल के समान नहीं है?

तन्त्र में कहा गया है—

यावन्नक्षीयते कर्म शुभञ्चाशुभमेव च
तावन्नजायते मोक्षो नृणाम् कल्पशतैरपि।
यथा लौहमयैः पाशैः पाशैः स्वर्णमयैरपि
तथा बद्धो भवेज्जीवो कर्माभिश्चाशुभैशुभैः (तन्त्र)

Yávannakshíyate karma shubhancá shubhamevaca
távannajayate mokshó nrnám kalpashataerapi
Yathá laohamayaeh páshach páshaeh
svarnamayaerapi
tathá baddho bhavejjiivo karmábhishcá
shubhaeshubhaeh (*Tantra*)

अर्थात् जब तक कर्म का क्षय नहीं होता है, चाहे वह शुभ अथवा अशुभ हो, तब तक मनुष्य शतकल्प में भी मोक्ष-लाभ नहीं कर सकेगा। लौह-शृंखल में किसी को बाँधने मे यह बन्धन उसके लिए जितना कष्टदायक होगा, स्वर्ण-शृंखल में भी उसको बाँधने मे वह बन्धन वा बन्धन-क्लेश, क्या कुछ कम कष्टदायक थोड़े ही होगा ? उसी प्रकार जीवों के लिए अशुभ कर्म का बन्धन जितना जटिल है, शुभ कर्म भी ठीक उतना ही जटिल बन्धन का कारण है।

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।"

Nábhuktaṁ kśiyate karma
kalpakotishatairapi
Avashyameva bhoktavyam krtaṁ
karma shubhá shubham

अतएव मोक्ष वा मुक्ति प्राप्ति के लिए संस्कारों से छुटकारा पाना ही होगा। प्रश्न है—छुटकारा पाने का उपाय क्या है ? अस्तित्व रक्षा के लिए जब कर्म करना ही होगा, तब कर्म-चक्र से मुक्ति पाना किस प्रकार सम्भव है ?"

दार्शनिक युक्तियों से हमलोगों को ज्ञात है कि—साधना से ही मुक्ति वा मोक्ष दोनों की प्राप्ति सम्भव है। इससे यह स्वतः प्रमाणित हो जाता है कि संस्कारों से मुक्ति पाने के लिए अवश्य ही कोई न कोई उपाय है।

कर्म-बन्धन से छुटकारा पाने के लिए तीन उपाय हैं- (१) फलाकांक्षा त्याग (२) कर्तृत्वाभिमान त्याग (३) सर्व कर्म ब्रह्म में समर्पण। किन उपायों का किस प्रकार अवलम्बन कर कार्य करना होगा, यह नीचे बतलाता हूँ— व्यक्तिगत-जीवन में इन सबों का अनुशीलन करना होगा, किन्तु मन में यह अवश्य ही धारण करना होगा कि इन तीन उपायों का एक संग ही अनुशीलन करना अभिप्रेत है, पृथक्-पृथक् नहीं। और भी स्पष्ट रूप में यह कहा जा सकता है कि एक ही उपाय के ये तीन विभिन्न अंग हैं।

फलाकांक्षा त्याग—मनुष्य प्रत्येक कार्य को किसी न किसी उद्देश्य से ही करता है। बिना उद्देश्य के कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। जैसे कोई एम० ए० में पढ़ता है। क्या उसका एम० ए० पास करना उद्देश्य नहीं है? उद्देश्य रखना ही होगा। किन्तु यदि वह केवल उद्देश्य रखकर ही माथापच्ची करे और उद्देश्य-सिद्धि के लिए कोई चेष्टा न करे तब क्या वह अपने उद्देश्य-सिद्धि में सफल हो सकता है? उद्देश्य-सिद्धि के लिए चिन्ता वा कार्य करने का अर्थ क्या है? एक उदाहरण दिया जाता है - मानों लोहे का एक टुकड़ा ऊपर उछाल दिया गया। वह क्रमशः जितना ऊपर उठेगा उसमें नीचे गिरने की शक्ति उतनी ही अर्जित होगी। इसी तरह ऊपर उठते-उठते जिस क्षण ऊपर उठने की उसकी गति रुक जायगी, उसी क्षण जितनी शक्ति से वह ऊपर उठा था,

उसी शक्ति से वह पुनः नीचे आ जायगा। यह स्वाभाविक है, प्रकृति का अटल नियम है अर्थात् कोई चिन्तन वा कार्य करने के साथ-साथ उसके फल की *Potentiality* वा बीज-सञ्चय भी अवश्य ही होगा। काम करते-करते जिस क्षण इस कार्य की समाप्ति होती है, उसी क्षण उसके फल की *Potentiality* की वृद्धि होना भी अवरुद्ध हो जाती है और अनिवार्य रूप से यही बीज-रूपी कर्म-फल (*Potential energy*) अर्थात् क्रिया के विपरीत प्रतिक्रिया में रूपान्तरित होता है। इसीलिए गीता में कहा गया है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"

Karmaṇi ye vádhikáraste má phaleśu kadácana.

अर्थात् कर्म के ऊपर ही मनुष्य का अधिकार रहता है, फल के ऊपर नहीं। जब फल के ऊपर हमलोगों का अधिकार नहीं है तब फल या उद्देश्य की सिद्धि होगी अथवा नहीं, इसको लेकर माथापच्ची करना ठीक नहीं। कर्म सिद्धि के लिए काम करना ही क्या युक्तिसंगत नहीं है? इस तरह काम करते जाने को ही फलाकांक्षा-त्याग कहेंगे।

कर्तृत्वाभिमान-त्याग— साधारणतः मनुष्य फल की आकांक्षा को ही लेकर काम करते हैं किन्तु फिर भी ऐसे अनेक हैं जो फल की आशा न करके केवल आत्मतुष्टि के लिए ही काम करते हैं अथवा काम को कर्त्तव्य समझ कर उसका सम्पादन करते हैं और मन-ही-मन गर्व का अनुभव

करते हैं। मानों, किसी व्यक्ति ने किसी संस्था को एक लाख रुपए दान दिया। परन्तु दूसरे दिन प्रातःकाल जब तक वह समाचार-पत्र में अपने दान की बात पढ़ नहीं लेता है तब तक उसके मन में शान्ति नहीं होती। सारी रात वह व्याकुल रहता है कि कब भोर होगा। भोर होने पर सबेरे चाय के वक्त समाचारपत्र में अपने दान की खबर देखकर वह मन में चैन और शान्ति का अनुभव करता है।

अतएव देखा जाता है कि केवल फलत्याग करने से ही नहीं होगा; क्योंकि कर्त्तव्य-सम्पादन का गर्व वा अपने दान की बात समाचारपत्र में देखने की इच्छा इत्यादि के फलस्वरूप भी प्रतिसंवेदन वा मानसिक प्रतिक्रिया की सृष्टि मन में होती ही है और पहले की तरह संस्कार बढ़ता ही जाता है।

"कर्म-क्लेशविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषो विशेष ईश्वरः॥"

(पतञ्जली)

Karmakleshavipáká shayaeraparámrsťah
Purusśo vishesśa iishvarah.

अर्थात् कर्म, क्लेश, विपाक वा आशय द्वारा अपरामृष्ट (अनभिभूत) पुरुष-विशेष को हम ईश्वर कहेंगे।

इसीलिए ईश्वर की प्राप्ति के लिए कर्मशून्य बनना पड़ेगा। किन्तु, हमने पूर्व ही देखा है कि जब तक प्रकृति का प्रभाव है, तब तक कर्मत्याग सम्भव नहीं है। कर्मफल

की चिन्ता नहीं कर, ध्येय प्राप्ति के लिए अर्थात् कर्मसिद्धि के उपायों का चिन्तन करने पर भी अथवा फलाकाङ्क्षा त्याग करने पर भी उपर्युक्त दृष्टान्त से हम देखते हैं कि कर्तृत्वाभिमान वा "मैं करता हूँ" यह भाव जाता नहीं है। इन सब से बचने के लिए हर समय मन में यह भाव रखना होगा कि मैं यंत्र हूँ और वे ही अर्थात ब्रह्म ही यंत्री हैं जो इस यंत्र के द्वारा कार्य सम्पादन करवाते हैं। किन्तु इससे भी कर्तृत्वाभिमान पूर्ण-रूप मे नहीं जाता है। इसका कारण यह है कि मन में ऐसा भी बोध हो सकता है कि "मैं यंत्र तो हूँ, किन्तु जब यंत्री यह कार्य (जो तत्काल सम्पादित हो रहा है) और अन्य के द्वारा नहीं करा कर मेरे द्वारा ही करवाते हैं, तब तो, निश्चय ही मैं औरों की अपेक्षा श्रेष्ठ हूँ।" इस भाव को दूर करने के लिए हमको ऐसा सोचना पड़ेगा कि ब्रह्म स्वयँ ही अपनी सेवा वा उपकार अपने द्वारा ही करवा लेते हैं अर्थात् वे ही हमलोगों के द्वारा दान करवाते हैं और पुनः दूसरों के द्वारा वे ही दान ग्रहण करते हैं। हमारे द्वारा जो यह कार्य होता है अथवा हमको यह काम करने का सुयोग प्राप्त हुआ है, यह भी उन्हीं की कृपा है। इसी भाव को धारण करने से कर्तृत्वाभिमान का त्याग करना सम्भव है।

सर्व-कर्म ब्रह्म में ही अर्पण-

किन्तु केवल फलाकांक्षा वा कर्तृत्वाभिमान त्याग करने

से ही तो नहीं हुआ! प्रकृति जब तक है तब तक उसका रजोगुण भी है और फलस्वरूप कर्म भी है। कर्म करने का अर्थ ही है कर्मचक्र में पड़ना। तब उपाय क्या है? उसका एकमात्र उपाय है सर्व कर्मों को ब्रह्म में अर्पित करना एवं सम्पूर्ण कर्मों को ब्रह्ममय कर लेना। तभी कर्म और कर्मफल हमारे लिए अपना कहलाने योग्य नहीं रहेंगे। कर्म भी तो ब्रह्म ही ने किया है तो फलभोग भी चाहे अच्छा हो अथवा बुरा, ब्रह्म ही करेंगे। तब हमारी पृथक्-सत्ता भी कुछ नहीं रहती है। यहाँ पर यह कहना उचित है कि अनेक व्यक्ति फलभोग के भय से कार्य नहीं करते हैं वा आपातदृष्टि से वे कर्म-शून्य हो जाते हैं। परन्तु क्या वे वास्तव में प्रकृत-कर्मशून्य हो सकते हैं? कारण, बाहर में कार्य नहीं करने पर भी उनका हृत्पिण्ड तो अपना काम करना नहीं बन्द कर देता है! अपरंच, अकर्म वा आपातदृष्टि से कर्म-हीनता को कदापि प्रश्रय नहीं दिया जा सकता है। जिन्होंने सर्व कर्मों को ब्रह्म में अर्पित कर दिया है, उनके लिए कर्म से भयभीत होने का कोई कारण नहीं रहा। ठीक इसी प्रकार कहा जा सकता है कि विकर्म, जो मनुष्य को स्वभाव का दास बना देता है ब्रह्म से विकर्षित कर दूर हटा ले जाता है, उस से बचने का उपाय ब्रह्म में मन को लीन रखना है। सद्वस्तु अर्थात् ब्रह्म में मन को न्यस्त करना ही सन्यास है। इसलिए, जिन्होंने ब्रह्म में मन को न्यस्त कर रखा है; वे ही प्रकृत सन्यासी हैं।

इस सम्बन्ध में महाभारत में एक सुन्दर उदाहरण है—

द्रौपदी युधिष्ठिर से पूछती है कि आप इतना सत्कर्म करने पर भी बनवास का कष्ट क्यों भोग रहे हैं? आप को तो स्वाभाविक नियमानुसार सुख मिलना चाहिए था। इस पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—

कर्म करि जेइ जन फलाकांक्षी हय।
बनिकेर मतो सेइ वाणिज्य करय॥
फल लोभे कर्म करे, लुब्ध बोलि तारे।
लोभे पुनः पुनः पड़े नरक दुस्तरे।
आमि जाहा कर्म करि, फलाकांक्षी नई।
समर्पण करि सर्व ईश्वरेर ठाँई॥

(काशीरामदास कृत महाभारत)

अपरंच देखा जाता है कि उपर्युक्त भाव से मन को ब्रह्म में न्यस्त करने से आत्मा का पृथक्-अस्तित्व पूर्ण-रूप से हट जाता है। फलस्वरूप, मनुष्य मुक्ति वा मोक्ष प्राप्ति के योग्य हो जाता है।

(भागलपुर, माघी पूर्णिमा १९५५)

साधना और मधुविद्या

साधारण मन का विषय मानसिक अथवा आभ्यन्तरिक जो भी हो, उनका निर्माण पाञ्चभौतिक-उपादानों से हुआ है। मन को अपनी स्वतंत्र सत्ता बचा कर रखने के लिए कोई विषय लेकर रहना ही पड़ेगा। विषय का अर्थ ही है देश। स्थूल अस्तित्व रखने के लिए जैसे जीव को किसी-न-किसी स्थूल देश में रहना ही पड़ता है, उसी प्रकार सूक्ष्म मानस-सत्ता को बचा कर रखने के लिए उसी के समान किसी-न-किसी सूक्ष्म-सत्ता में मन को आधारित रखना ही होगा।

पार्थिक-सत्ता मात्र के अस्तित्व की रक्षा के लिए देश तथा काल की आवश्यकता है। इसीलिए मन-रूप पार्थिक-सत्ता सर्वदा ही कोई-न-कोई विषय खोजती ही रहती है। जो विषय उसके संस्कार के स्फुरण को समुचित-रूप से आश्रय नहीं दे सकते अथवा भोग करने के फलस्वरूप जो विषय समाप्त हो जाते हैं, मन उनके भाव को छोड़कर एक नवीन विषय की ओर जाता है। मन की यह दौड़धूप कभी

समाप्त नहीं होती । जिसकी संस्कारगत भोगेच्छा जितनी प्रबल है उसका मन एक विषय से दूसरे विषयों की ओर उतनी ही शीघ्रता से दौड़ता रहता है। हमलोग इसी को मानसिक-चंचलता कहते हैं ।

प्रश्न उठ सकता है, मन यदि सम्पूर्ण रूप से विषय-शून्य हो जाय, तब उसकी क्या गति होगी ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि उस क्षेत्र में मन की मृत्यु होगी— वह नस्यात् हो जायगा । अपने को बचाने की चेष्टा स्वाभाविक है, इसीलिए तो मन अपने को बचा रखने के लिए विषय का आश्रय खोजता रहता है।

पूर्व ही कहा गया है कि साधारण मन का विषय हर समय पाञ्चभौतिक-उपादानों द्वारा निर्मित प्रपञ्चमय-जगत् से संगृहीत होता है । इस पाञ्चभौतिक-जगत् का स्वरूप क्या है और उसका विषयी मन किन उपादानों से निर्मित है ?

दार्शनिक विचार से सर्वत्र ही एक अनादि, अनन्त चेतन-सत्ता है । यह चैतन्यघनसत्ता जब तक स्वभाव में स्थित है, तब तक विषय-विषयी किंवा ज्ञान-ज्ञाता का प्रश्न ही नहीं उठता है । किन्तु जब उसका अंशविशेष प्रकृति के बन्धन में पड़ता है, तब नामरूप केन्द्री "मैंपन" का अस्तित्व बोध होता है। यही "मैंपन" का बोध उस समय ज्ञानघन-सत्ता पुरुष के विषय-रूप में प्रतीत होता है । इसी 'मैंपन' बोध की व्यापक परिणति को हमलोग मन

कहते हैं। इसमें मैंपन के तीन स्तर हैं। महत्तत्त्व (मैं हूँ) अहंतत्त्व (मैं करता हूँ वा मैं मालिक हूँ) और चित्त (भोग्य रूप 'में') यही मन पुरुष की प्रथम विकृति और उसका विषय है।

पूर्व ही कहा गया है कि यह परिदृश्यमान्--जगत् मन का ही विषय है, इससे यह सिद्ध होता है कि पुरुष इस पाञ्चभौतिक--जगत् का कुछ भी भोग नहीं करता है, केवल मन ही भोग करता है और पुरुष केवल उस भोक्ता मन की भोग क्रिया का साक्षी-स्वरूप बन कर रहता है।

मन के दो ऊर्ध्वतर स्तरों (महत्तत्त्व और अहंतत्त्व) की भोग्य वस्तु उसी की चित्तभूमि में गृहीत, व्यक्त वा रूपायित होकर रहती है। मनुष्य कोई सुस्वादु भोजन ग्रहण कर सुख प्राप्त करता है, यहाँ पर सुख भोक्ता कौन है ?—मन के महत्तत्त्व और अहंतत्त्व ये दोनों स्तर। भोग्य कौन है ? खाद्य ही तो भोग्य है। हाँ, आपातदृष्टि से तो यही देखा जाता है परन्तु वास्तव में यह सुस्वाद ग्रहण का भाव स्पर्श और रस तन्मात्र रूप में, ज्ञानेन्द्रिय द्वारा गृहीत होकर जब तक चित्त में पहुँच कर, चित्त को तद्भाव में भावित नहीं करता है तब तक मन उस सुस्वादु खाद्य को ग्रहण कर भी सुख प्राप्ति का अनुभव नहीं करता है। इसीलिए तो अन्यमनस्क भाव से कोई प्रीतिकर कार्य करते समय वा खाद्य ग्रहण करते समय मनुष्य यथोपयुक्त सुख नहीं पाता है।

इसका कारण यह है कि चित्त उस समय आंशिक भाव मे अन्य वस्तु का रूप परिग्रह करता है और इसीलिए वह भोग्य वस्तु के तन्मात्र को यथायथ रूप नहीं दे पाता है।

इसमे हमलोग यह समझते है कि मन कभी भी मूल वस्तु का भोग नहीं करता है। वह इन वस्तु-समूह की प्रतिबिम्बित छायाभास को भोग करता है। पाञ्चभौतिक-जड़जगत् से आहृत छायाभास को पकड़कर मनुष्य समझता है कि हमारा अभीष्ट शायद पूर्ण हुआ। मन यदि सचमुच में कुछ भोग करना चाहता है तो ठीक इसके विपरीत मार्ग लेना होगा। जिस ब्राह्मी-चित्त की चरम अभिव्यक्ति के फलस्वरूप इस प्रपञ्चमय-जगत् का निर्माण हुआ है, उससे मन को हटा कर ब्राह्मी-चित्त की मूल--सत्ता विराट्-पुरुष को अपना विषय बनाना होगा। पुरुष का विषय मन है। फिर यदि पुरुष-सत्ता मन का विषय है, तो उस क्षेत्र में उन दोनों के सान्निध्य और संयोग के फलस्वरूप, उभयों का विषयीभाव सम्पूर्ण रूप से दूरीभूत होगा। इसी संयोग का ही नाम योग है, मन-केन्द्रिक "क्षुद्र मैं" को विराट्-पुरुष-सत्ता में मिला देना है।

"संयोगो योगो इत्युक्तो जीवात्मा परमात्मनः।"

Samyogo yogo ityukto jiivátmá paramátmanah.

किन्तु 'मैं' सत्ता को बचाकर रखने के भाव को लेकर यदि कोई व्यक्ति पुरुष-सत्ता में मिल जाना चाहे तो वह सम्पूर्ण भाव से विषयमुक्त नहीं होगा। उस अवस्था में

विराट्-पुरुष का विराट्-मन ही उसका विषय होकर रहेगा। इसी अवस्था को हमलोग "सविकल्प-समाधि" कहते हैं। यदि 'मैं'—केन्द्रिक कोई चिन्ता नहीं रहे, यहाँ तक कि अपने को बचा कर रखने की इच्छा भी नहीं रहे, यही सम्पूर्ण विषय-शून्य वा चिन्ताशून्य अवस्था ही "निर्विकल्प-समाधि" पदवाच्य है।

"सर्वचिन्ता परित्यागो निश्चिन्तो योगउच्यते।"

Sarva Cintá parityágo nishcinto yogaucyate.

पुरुष ही एकमात्र ज्ञानसत्ता हैं, वे ही ज्ञानस्वरूप वा ज्ञ-स्वरूप हैं; जिस तरह सूर्य ज्योतिस्वरूप है—आपातदृष्टि से वह दूसरों से ज्योति पाकर ज्योतिष्मान् नहीं होता है। इस ज्ञानस्वरूप पुरुष की ओर की गति को हमलोग ज्ञान-क्रिया कहेंगे और ब्राह्मी-मन की कल्पना-सृष्ट पाञ्चभौतिक उपादान-समूह की छाया की ओर जो गति है, वह ठीक इसकी विपरीत क्रिया है।

इस बात को और अच्छी तरह से इस प्रकार कहा जा सकता है- ज्ञानस्वरूप परम-ब्रह्म ही शाश्वत सत्य हैं और यह पाञ्चभौतिक-जगत् उनके ऊपर प्रकृति के प्रभाव की प्रतिफलित परिणति है। हमलोग यदि इस पाञ्चभौतिक-जगत् का भोग कर सकते, तब कह सकते थे कि हमलोग ब्रह्म-मानस-सृष्ट-छाया वा कल्पना का भोग कर रहे हैं। किन्तु वास्तव में हम में से कोई इस पाञ्चभौतिक-जगत् का भोग

नहीं कर सकता है। छाया-जगत् मे हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ प्रतिच्छवि वा तन्मात्र ग्रहण कर चित्त धातु को जो तदनुसार रूप देती हैं, हम उसी रूप को; अर्थात छाया की छाया का ही भोग कर रहे हैं।

"आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानियानितु
तानि ज्ञानावभासानि साम्यनैव बोधनात्।"

Átmajin̐á'nam vidurjin̐á'nam jin̐á'nányanyá niyá'nitu
Tá'ni jin̐á'nábhasá'ni sá'rasya'nacca bodhan't.

किन्तु यह अवमास वा छाया देखकर क्या हम प्रकृत पुरुष-सत्ता को समझ सकते है? कदापि नहीं। केवल किसी वृक्ष की छाया को ही देखकर हम नहीं कह सकते कि वह आम अथवा कटहल वा लीची का वृक्ष है। उस वृक्ष को जानने के लिए, वृक्ष की ओर ही देखना होगा, छाया की ओर नहीं। उस ब्रह्म को जानने के लिए, उनकी छायामयी-लीला में फँसे रहने से काम नहीं चलेगा। समी वृत्तियों को उनके स्वरूप की ओर उन्मुख करना ही पड़ेगा।

जीवों में जिस प्रकार "क्षुद्र-मैं" रूपी मानसिक सत्ता रहती है, उसी प्रकार इसका विषयी बनकर रहती है पुरुष-सत्ता। विशेष अवस्था में इस पुरुष-सत्ता को हम जीवात्मा कहते हैं। अतएव उसी ओर अग्रसर होने से अर्थात् निज-

स्वरूप में उपस्थित होने पर ही मनुष्य इस छायात्मक-जगत् मे छुटकारा पा सकेगा। यही निज-स्वरूप में अवस्थित होना ही विराट्-पुरुष में अवस्थित होना है। विषयमुक्त-जीवात्मा और विषयमुक्त परमात्मा सम्पूर्ण एक ही सत्ता हैं।

"आत्मज्ञानमिदं देवी परं मोक्षैकसाधनम्
सुकृतैर्मानवो भूत्वा ज्ञानीचेन्मोक्षमाप्नुयात्।" (तन्त्र)

Átmajnánamidam devi paramam mokshaikasádhanam
Sukritairmánavo bhútvá jnánichenmokshamápnuyát. (*Tantra*)

इस ज्ञान की उपलब्धि केवल पुस्तक-पाठ मे नहीं होगी। इसके लिए निष्ठा की आवश्यकता है, साधना की आवश्यकता है अर्थात् सर्वदा ब्रह्म को ही लक्ष्य बनाकर चलना है। सभी वृत्तियों को उनकी ही ओर ले जाने से, वे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जायँगी। अन्ततोगत्वा, वे सब उसी में लय हो जायँगी। वृत्तियों के नहीं रहने पर मन भी नहीं रहेगा। तुम मन की पहुँच के बाहर हो जाओगे। तुम सुख-दुःख से परे होकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाओगे।

"तदाद्रष्टुस्वरूपेऽवस्थानम्" (पातञ्जल)

Tadá drastu svarúpe'vasthánam.

मन को विकृतियों से यत्नपूर्वक बचाते हुए चलना है। किसी भी तरह अपने मन की पवित्रता को नष्ट नहीं होने दोगे। इसी प्रकार कुछ दिन करने से तुम देखोगे कि जो मन एक दिन तुम्हारी हीनवृत्तियों का आधारस्वरूप था वही आज तुम्हारा कितना बड़ा मित्र बन गया है। तुम्हारे सब कामों को मन ही कर देगा। आत्मा की ओर से उसे केवल प्रेरणा देते रहो। तुम मन को आत्मिक-ज्योति से उज्ज्वल कर दो। शाश्वत-सत्य तुम्हारे अन्तर में स्वयं-ही प्रकट हो जायगा।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा (पातञ्जल)

Rtambharā tatra prajñā.

जिन्होंने विपरीत मार्ग ग्रहण किया है वे सचमुच में अबोध हैं। क्योंकि वे जड़ की उपासना से अपनी मानस-सत्ता को क्रमशः जड़ता में पर्यवसित कर देते हैं। उनका मानसधातु (*mind-stuff*) क्रमशः विकृत होते-होते ऐसी दशा में पहुँच जाता है जब वे मनुष्य कहलाने योग्य भी नहीं रह जाते हैं। कौन कह सकता है कि कदली अग्निदग्ध बेंत की परिणति है या गलित-गोमाँस की परिणति, प्रकृति परिवर्त्तन से प्याज के रूप में हुई है? चावल के धोए हुए जल से गेंधारी (संस्कृत-तण्डुलरक) शाक की उत्पत्ति हुई है? उसी तरह कौन कह सकता है कि तुम्हारे विकृत-रूप को देखकर तुम जो एक दिन मनुष्य थे, वह समझना भी अस-

म्भव हो जायगा।

इसलिए जड़ की उपासना मत करो। तुम अपने "तुम को" प्रवृत्ति-जन्य उत्तेजना के द्वारा बाहर की ओर मत जाने दो। यह बहिर्मुखी-भाव एवं जड़ की उपासना ही स्पष्ट-रूप से आत्मसाधन के बाधक हैं।

उत्तमो ब्रह्मसद्भावो मध्यमा ध्यानधारणा
जपस्तुतिस्यादधमा मूर्त्तिपूजाधमाधमा (तन्त्र)

Uttamo Brahmasadbhávo madhyamá
dhyánadhárańá
japastutisyadadhamá murtipujádhamá
dhamá. (*Tantra*)

मूर्त्तिपूजा से मन बहिर्मुखी होकर जड़ खण्ड-सत्ता की ओर भागता है। सीमित जड़-सत्ता की ओर मानस-शक्ति को संचालित करने का परिणाम होता है, स्वयँ को जड़ बना देना; क्योंकि (*As you think so you become*) तुम जिसका चिन्तन करोगे, वही बन जाओगे।

विराट् सर्वव्यापक-सत्ता के नाम पर मूर्त्तिपूजा कदापि वाञ्छनीय नहीं है। मूर्त्ति तो एक सीमित वस्तु है। एक ओर मुख से तुम ब्रह्म को सर्वव्यापक कहकर फिर उसी से मूर्त्तिपूजा का समर्थन करते हो, क्या यह परस्पर विरोधी उक्ति नहीं है? मूर्त्ति ही यदि ब्रह्म है तब तो जिस आसन चौकी पर वह आसीन है वह तो निश्चय ही ब्रह्म के बाहर

हुई। यह कैसी बात है ? ऋग्वेद में जिनके लिए कहा गया है—

"सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षसहस्रपात्
स भूमिर्विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्"
(ऋग्वेद पुरुषसूक्तम्)

Sahasrashiirshá'h purushah
sahasrákshasahasrapát
Sa bhumirvishvato vritvá
atyatishthaddasha mgulam

भावुक कवि कहते हैं—

"प्रतिमा दिये कि पुजिबो तोमारे
ए विश्व निखिल तोमारि प्रतिमा
मन्दिर तोमार कि गडिबो मागो,
मन्दिर जाहार अनन्त नीलिमा,
प्रतिमा तोमार ग्रह, तारा, रवि,
सागर, निर्झर, भूधर, अटवी ।
निकुञ्ज-भवन, बसन्त-पवन,
तरुलता, फलफूल मधुरिमा,
सतीर पवित्र प्रणय मधुमा,
शिशुर हासिटि जननीर चूमा,
साधुर भकति, प्रतिभा शकति,
तोमारि माधुरी तोमारि महिमा.

जेइ दिके चाइ ए निखिल भूमि
सब दिके मागो, विराजिछ तुमि
कि ग्रीष्मे, कि शीते, दिवसे-निशीथे
विकशित तव विभव गरिमा"

(श्री द्विजेन्द्र लाल राय)

वैदिक ऋषियों ने भी कहा है—

"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमा
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तद् प्रजापतिः
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी
त्व जीर्णदण्डेनवञ्चयसि त्वं जातोभवसि विश्वतोमुखः"

Tadeva gni stadá dity-a stadvá yu staducandr-má
Tadeva shukram tadbrahma tadá pastad praja patih
Tvam striitvam puma nasi tvam kumára
uta vá kumarii
Tvam jiirn adand enavancayasi tvam ja to-
bhovasi visvatomukhah.

"जाके रूप न जाय वखानि"
Já ke rup na já e bakhá ni.

लेकिन संसार में रहते हुए खण्ड को लेकर काम करना ही पड़ेगा। हर समय श्रेय की ओर अग्रसर होने से ही तो अस्तित्व की रक्षा नहीं हो सकेगी ? यदि यह बात सत्य है कि अपनी पारमार्थिक-उन्नति के लिए श्रेय ही अभीष्ट है,

तो एकमात्र श्रेय की ही साधना करनी होगी, प्रेय की नहीं। वेद में कहा गया है—

"अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवतिहीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते।'
"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।"
(कठो०)

Anyacchreyo'nyadutaeva preyaste
ubhe náná'rthe puruśam siniitah.
Tayoh shreya á'dadá nasya
sa dhu bhavatihiiyate'rthá'd ya u preyo vrńiite
Shreyashca preyasca manuśyametastao
sampariitya vivinakti dhiirah.
Shreyo hi dhiiro'bhipreyaso vrńiite
preyo mando yogakśemá'd vrńiite. (*Kath'o*)

किन्तु तब साधना-काल में साधक अपने अस्तित्व को किस प्रकार बचा कर रखेगा? उसको तो किसी भी प्रकार के प्रेय की साधना करने के लिए नहीं कह सकते हैं। अतएव प्रेय के साथ इस तरह व्यवहार करना होगा कि वह उसके लिए बन्धन एवं उसके बहिर्मुखी-भाव का कारण न हो। उसकी मुक्ति अर्थात् उसकी अन्तर्मुखी-गति का कारण हो। इसी कौशल का नाम मधुविद्या है।

मधुविद्या मनुष्य को यह सिखलाती है कि तुम संसार ही में रह कर मुक्ति के लिए साधना कर सकते हो, यदि तुम प्रत्येक भोग्य-वस्तु को व्यवहार करने के पूर्व उसे ब्रह्म-भाव से ग्रहण करो। क्या तुम पुत्र को खिलाते हो? नहीं, नहीं, ब्रह्म ही के पुत्र-रूपी विकाश के साथ उचित व्यवहार करते हो। क्या तुम खेत जोतते हो? नहीं, नहीं, ब्रह्म के भूमि-रूपी-विकाश के साथ उचित व्यवहार करते हो। इस मधु-विद्या का उचित व्यवहार कर तुम कर्म करके भी कर्म-बन्धन से बाहर रह सकोगे। यह मधुविद्या तुम्हारे बाह्य एवं अन्तर को ब्रह्मानन्द से परिपूर्ण कर देगी। इसी पूर्णता से तुम्हारे समस्त क्लेशों की आत्यन्तिकी-निवृत्ति हो जायगी। तब अविद्या अपना भयंकर मुख फाड़ कर तुमको ग्रसने के लिए नहीं आ सकेगी। सब वस्तुओं में तुम्हें एक ही मधु-रूप प्रतिभासित होगा।

"इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्व्वाणि भूतानि मधुः अयमात्मा सर्व्वेषां भूतानां मध्वस्य आत्मनः सर्व्वाणि भूतानि मधुः"

Idam mánuśam sarveśám bhútánám
Madhvasya mánuśasya sarvani bhútáni madhuh.
Ayamátmá sarveśám bhútánám
Madhvasya átmanah sarváni bhutáni madhuh.

(मुंगेर-जागृति उद्बोधन-काल— १९५५)

आधार और आपेक्षिक सत्य

धार्मिक-साधना का आरम्भ और अन्त एक ही बात में निहित है। वह है आधार शुद्धि, आधार की परिशुद्धि। मनुष्य आधार को ही लेकर दुःख और कष्ट भोग करता है। यदि आधार मजबूत हो, तब कष्ट कष्ट नहीं, दुःख दुःख नहीं।

आधार :—प्रत्येक सीमित वस्तु के लिए आधार प्रयोजनीय है। क्योंकि आधार के ही कारण एक वस्तु दूसरे से भिन्न होकर रहती है। किसी दो प्राणी का एक ही आधार नहीं होता है। अपने-अपने संस्कार के अनुसार प्राणी विराट्-ब्रह्मदेह से अपने लिए एक आधार चयन कर लेता है। चि धातु में घञ् प्रत्यय जोड़कर काय शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ ही है चयन करना। जीव परमब्रह्म के मन से आधार लेता है। वह परम-ब्रह्म का मानसपुत्र है। परमपुरुष के ऊपर प्रकृति के प्रभाव के कारण उसका मानस-शरीर सृष्ट होता है। अतएव यह देह एक प्राकृत-सत्ता है, इसको प्रकृति के नियमानुसार चलना ही होगा।

अनन्त सत्ता को स्थूल-देह की आवश्यकता नहीं है, इसीलिए केवल मानसदेह ही है। जो अनन्त नहीं है, उसी के लिए सीमा-रेखा प्रयोजनीय है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है-सत्त्व, रजः और तमः, यही तीन विशिष्ट गुण हैं। प्रकृति के गुण के प्रभाव के कारण ही पुरुष का 'मैं हूँ' "मैं करता हूँ" "मैं ही वस्तु हूँ" इत्यादि बोध जगता है। पुरुष के ऊपर यदि प्रकृति के एक ही गुण का प्रभाव रहता तो परिवर्त्तन नहीं हो सकता था। परिवर्त्तन द्वारा ही यह प्रमाणित होता है कि सर्वत्र केवल एक ही गुण का प्रभाव नहीं है।

(१) भूर्लोकः—पाञ्चभौतिक-जगत् में स्थूलत्व सर्वाधिक है। यहाँ पर तमोगुण का ही प्रभाव अधिक है। किन्तु स्थूलदेह हो अथवा सूक्ष्मदेह, प्रकृति के तीनों गुण निश्चय ही रहते हैं। ब्रह्म को केवल मानसदेह है। इसी मानसदेह (सूक्ष्मदेह) के स्थूल-विकाश के लिए ही इस पाञ्चभौतिक-जगत् की सृष्टि हुई है। किन्तु कहीं भी एक ही गुण अकेले नहीं है। सर्वत्र ही तीनों गुण हैं। कहीं कोई अधिक, कहीं कम। स्थूल-जगत् (Physical world) में जड़त्व है। अतएव यहाँ तमोगुण प्रधान है, रजोगुण साधारण और सत्त्व-गुण अल्प। संस्कृत में इसे भूर्लोक कहा गया है। यह ब्रह्म का स्थूलतम मानसिक-विकाश है।

सप्तलोकों में सर्वाधिक स्थूलता भूर्लोक में है और तत्-पश्चात् भुवर्लोक (Crude or lower mental sphere) में।

यहाँ तमोगुण प्रधान है, रजोगुण अल्प एवं सत्त्वगुण साधारण। मनुष्य की चिन्ता, ध्यान वा धारणा तथा ऊँच-नीच प्रत्येक प्रकार के बोध में मन ही रहता है।

"मनो करोति कर्माणि"

Mano karoti karmáṅi

(२) भूवर्लोक— मन का जो स्तर देहगत कार्य में लिप्त होता है, उसी को भूवर्लोक कहते हैं। क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, तन्द्रादि समस्त वृत्तियाँ देहगत हैं। इस वृत्ति-समूह के स्पन्दन वा स्फुरण भूवर्लौकिक होते हैं।

इस लोक से ही मन का स्थूलतम अंश उत्पन्न होता है, जिसको जीव का काममय-देह वा काममय-कोष कहा जाता है। ब्रह्म का निज स्थूल-शरीर नहीं रहने के कारण तत्सम्बन्धी कार्य-सम्पादन करने के लिए काममय-देह नहीं है, किन्तु उनके मन के स्थूलतम मानसिक-विकाश से, भूर्लोक की अभिव्यक्ति का पूर्व स्तर बनकर भूवर्लोक की सृष्टि होती है। वे अपने मानस-सृष्ट पाञ्चभौतिक-जगत् को अपनी भूवर्लौकिक-सत्ता द्वारा आभ्यन्तरिक-भाव से ही भोग करते जाते हैं।

(३) स्वर्लोक—स्वर्लोक को ही मनोमय—जगत् कहा जाता है। इसी लोक में मनुष्य सुख-दुःख का भोग करता है। जो मन सुख-दुःख भोग करता है उसे मनोमय-जगत् कहते हैं। संस्कृत में स्वर्ग और स्वर्लोक का एक ही अर्थ

है। देहत्याग के परचात् स्वर्ग की प्राप्ति करेंगे, यही मनोभाव लेकर भोगी-व्यक्ति पुण्यकर्म करते हैं। संस्कार की अवस्थिति इसी मनोमय-जगत् वा मनोमय-कोष (pure mental sphere) में है। इसमें रजोगुण प्रधान, तमोगुण साधारण और सत्त्वगुण अल्प-मात्रा में रहते हैं। संस्कार का उद्भव स्वर्लोक में होता है। स्वर्लोक वा स्वर्ग में पुण्य फल का भोग होता है, यह विश्वास ईसाई, मुसलमान एवं जैमिनी-पंथी हिन्दू-कर्मकाण्डियों में है।

(४) महर्लोक—महर्लोक का दूसरा नाम संस्कृत में अतिमानस-लोक (*Supramental sphere*) है। यहाँ रजोगुण प्रधान, सत्त्वगुण साधारण और तमोगुण अप्रधान है। इसी लोक में संस्कार का प्रथम स्फुरण होता है। मानव-मन कर्मफल भोगने के लिए संस्कार द्वारा परिचालित होता है। इस पूञ्जीभूत—संस्कार का प्रथम स्पन्दन इसी लोक में सृष्ट होता है। मानो, किसी व्यक्ति को एक ऐसे स्थान में जाना है जहाँ हैजा फैला हुआ है। वहाँ जाने के पूर्व ही उसके मन में जैसे कोई कहता है कि मुझे भी हैजा होगा। यह अतिमानस-स्तर का काम है। बाद में वहाँ जाने से देखा गया कि सचमुच में उसको हैजा हो गया। साधना की भी प्रथम इच्छा वा एषणा का प्रथम उद्भव इसी स्तर में होता है। इसी स्तर में आत्मिक-प्रेरणा प्रथम कार्यान्वित होती है। अतएव देखा जाता है कि साधना

का बीज वा विभिन्न मनुष्यों के साधनागत भेद, इसी स्तर में सृष्ट होते हैं।

(५) जनर्लोक—इसको विज्ञानमय-लोक कहते हैं। यह लोक विज्ञान, विवेक एवं वैराग्य प्रधान है। भोगी पुरुष में भी कभी-कभी यह सब गुण प्रधान होकर रहता है। किन्तु भूः भूवः इत्यादि के प्राधान्य के कारण बाधाएँ आती हैं। इस जनर्लोक में सत्त्वगुण प्रधान, तमोगुण साधारण एवं रजोगुण अल्पमात्रा में रहते हैं।

(६) तपः लोक—इसको हिरण्मय-लोक कहते हैं। हिरण्मय-लोक में सत्त्व-गुण प्रधान, रजोगुण साधारण तथा तमोगुण अल्पमात्रा में रहते हैं। यहाँ पर विज्ञान की अप्रकट अवस्था है। यहाँ "मैं हूँ" का 'मैं' भी ठीक प्रकट नहीं होता, किन्तु वह थोड़ी सुषुप्ति-अवस्था (latent) में रहता है। महर्लोक से ऊपर के लोकों का अँगरेजी नाम नहीं है।

(७) सत्यलोक—यहाँ पर भी तीन गुण हैं, किन्तु प्रकट नहीं हैं। यहाँ पुरुष प्रधान है। पुरुष ही इस लोक में प्रकट है। सत्यलोक में निर्गुण की स्थिति है। परिदृश्यमान्-जगत् में सात स्तर हैं। इस लोक को छोड़कर शेष छः लोकों में तीन गुणों के भेद के कारण प्रकाश है।

जीवों के लिए आधार की आवश्यकता है। आधार नहीं रहने से वे ब्रह्म-समुद्र में लीन हो जाते हैं। मानो,

किसी तालाब में एक कटोरे में जल है। जब तक कटोरा है तब तक कटोरे का जल भी है। किन्तु कटोरा हटा लेने पर कटोरे का जल तालाब के जल में मिल जाता है। इस जल का आधार कटोरा था। इस आधार को हटा लेने पर ही उसका जल तालाब के जल के साथ मिलकर एक हो जाता है। इसी तरह आधार के नहीं रहने पर जीव भी ब्रह्म में मिल जाता है।

(१) अन्नमय-कोष :— शरीर के नहीं रहने पर संस्कार आत्मा के साथ रह जाता है। यह किस तरह होता है? हिरण्मयलोक सर्वा-पेक्षा मनुष्य का सूक्ष्म-शरीर है। जीव स्थूल-शरीर को भूर्लोक से ही चयन करता है, जहाँ पर तमोगुण प्रधान, रजोगुण साधारण और सत्त्वगुण अल्पमात्रा में रहते हैं। संस्कृत में इसका दूसरा नाम अन्नमय-कोष है। यह कोष खाद्य द्वारा निर्मित होता है।

(२) काममय-कोष :— देह के पीछे मन काम करता है। यह मन काममय-कोष (crude mental-body) के द्वारा निर्मित होता है। यहाँ तमोगुण प्रधान, सत्त्वगुण मध्यम और रजोगुण अल्प है।

(३) मनोमय-कोष :-काममय देह (pure mental-body) के पीछे परम-ब्रह्म का मानसिक-जगत्—स्वर्लोक है। इस (काममय-देह) के ऊपर साधारण मन है जो मनोमय-कोष द्वारा सृष्ट

होता है। यहाँ रजोगुण प्रधान, तमोगुण साधारण और सत्त्व-गुण अल्प है। मन के पीछे मनुष्य की अतिममानस-सत्ता या देह या कोष है, जो महर्लोक से निर्मित हुआ है। यहाँ रजोगुण प्रधान, सत्त्वगुण साधारण और तमोगुण अल्प है। कोष का अर्थ देह होता है। इस चतुर्लोक में तीन कोष हैं।

(४) विज्ञानमय कोष—यहीं संस्कार की अवस्थिति है। यहाँ सत्त्वगुण प्रधान, तमोगुण साधारण और रजोगुण अल्प है। इस मानसिक-देह को विज्ञानमय-जगत् कहते हैं इसका ही नाम ब्रह्म का जनर्लोक है।

(५) हिरण्मय-कोष:—इसको ही तपर्लोक कहा जाता है। यहाँ सत्त्वगुण प्रधान, रजोगुण साधारण और तमोगुण अल्प है। हिरण्मय शब्द का अर्थ स्वर्ण-निर्मित या सुनहला है।

सत्यलोक वह अवस्था है जिस स्तर में सत्य-स्वरूप को छोड़कर अन्य कुछ उपलब्ध नहीं होता है। वहाँ जड़ता के परिणाम वा विकार को कोई द्वैत-भावना नहीं है। स्वरूपतः जीवात्मा भी उसी अमृतमय-सत्यलोक ही में स्थित रहती है, उसका स्थान हिरण्मय-कोष से ऊपर है।

हिरण्मये परे कोशे बिरजं ब्रह्म निष्कलम्
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदोविदुः।"

Hiraṅmaye pare kośe
virajaṁ Brahma niṣkalam.
Tacchubhraṁ jyotiṣāṁ
jyotistad yadātmavido viduḥ.

प्रकृति के प्रभाव से एक ही परमात्मा सप्तलोकात्मक प्रतीत होते हैं अर्थात् इसी सप्तलोकात्मक-विकाश के लिए ही महत्तत्त्वादि की सृष्टि हुई है। उनकी मानसदेह के जड़-तम विकाश पाञ्चभौतिक-तत्त्व से ही जीवात्मा अपने-अपने संस्कार के अनुरूप अपनी स्थूल पाञ्चभौतिक-देह वा अन्नमय-कोष तैयार कर लेती है। उसी अन्नमय-कोष या इन्द्रिय-समूह की सहायता से वह अपने बाह्य-जगत् के विषय-समूह को भोगकर सुख पाने की चेष्टा करती है। वस्तुतः सर्वत्र एक अखण्ड-सत्ता ही है। जीवात्मा और परमात्मा का भेद सम्पूर्णतः उपाधिगत है। जहाँ विराट्महत् या विराट्-अहंरूप उपाधि के दिए जाने पर वे 'परम्-ब्रह्म' कहलाते हैं, वहाँ जब उनको संस्कार-सञ्जात पाञ्चभौतिक-देह की उपाधि दी जाती है तो वे 'जीव' कहलाते हैं।

"तयोर्विरोधोऽयं उपाधिकल्पितो नवास्तवः कश्चिदुपाधिरेषः
ईशाद्यमाया महदादि कारणं जीवस्य कार्यं शृणु पञ्चकोषम्।"

Tayorvirodho'yam upādhi kalpito
navāstavaḥ kaścidupādhireṣaḥ.
Iśādyamāyā mahadādi kāraṇaṁ
jīivasya kāryaṁ śhṛṇu pañcakośam.

साधना इसी उपाधिगत भेद को दूर करना सिखलाती है।

एतावुपाधि परं जीवयोस्तयो
सम्यग्निरासेन परं न जीवो
राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटक-
स्तयोरपोहेन भटो न राजा

Etávupádhi paraṁ jívayostayo
samyagnirásena paraṁ na jívo
Rájyaṁ narendrasya bhaṭasya
kheṭaka stayorapohena bhaṭo na Rajá

राज्य-चिन्ह युक्त रहने पर जिसको राजा कहा जाता है, मुद्गर-उपाधि मे युक्त रहने पर उसे ही पहलवान कहा जाता है। जैसे, विश्वनाथ को राज्य-चिन्ह युक्त रहने पर राजा कहेंगे और मुद्गर-युक्त रहने पर पहलवान कहेंगे। किन्तु राज्य-चिन्ह वा मुद्गर उपाधि ले लेने पर विश्वनाथ, विश्वनाथ ही रह जाता है। उसी प्रकार जीव और परमात्मा का भी उपाधिगत-भेद रहता है। जीव से उपाधिगत-भेद हटा लेने पर, वह ब्रह्म में मिल जाता है, अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

जहाँ उपाधिगत-दोष नहीं है, वहीं सत्य है और वही वास्तविक परिचय है। इसी के लिए साधना है अर्थात् असत्य को पराजित कर सत्य को प्रतिष्ठित करना ही साधना है। लोक और कोष सब विकृतियाँ हैं, सत्य नहीं।

सत्य और असत्य में भेद या अन्तर—

सत्य का परिवर्त्तन नहीं होता। परिवर्त्तन होने पर परिवर्त्तित अवस्था में वह सत्य नहीं है। जिसका परिवर्त्तन नहीं होता, वही सत्य है। वह तीनों काल में एक रूप रहता है। भूत, भविष्य और वर्त्तमान तीनों काल में एक ही रूप में रहने के कारण वह कालातीत है, केवल कालातीत ही नहीं, देशातीत एवं पात्रातीत भी है। वह देश, काल, पात्र से अतीत है। उसमें अपने शरीर में भेद नहीं है। एक अंश के साथ दूसरे अंश का भी भेद नहीं है। ब्रह्म वा सत्य एक अखण्ड, अविच्छिन्न एवं अपरिणामी-सत्ता है। सत्य में भेद नहीं है। तब क्या बाह्य वस्तु के साथ भेद रह सकता है? नहीं, भीतर और बाहर कहीं भेद नहीं है। उनके बाहर कुछ नहीं रह सकता है। रहने पर ही भेद आ जायगा। उनके बाहर कोई वस्तु रह नहीं सकती। जो अखण्ड है एवं जिसका टुकड़ा नहीं है, उसकी सीमा भी नहीं है। अतएव उनके तुल्य वस्तु भी उनके ही भीतर रहेगी।

सत्य में स्वजातीय, विजातीय एवं स्वगत-भेद नहीं है। आम्रवृक्ष यदि सत्य है तो क्या जगत् में और अन्य जातीय वृक्ष नहीं हैं? अन्य वृक्ष भी हैं। अतएव आम्रवृक्ष परम सत्य नहीं है। क्योंकि इसमें विजातीय भेद है। आम का स्वजातीय भेद भी है—जैसे, बम्बई, किशनभोग इत्यादि। इसका स्वगत भेद भी है—जैसे, पत्ते, कली और फल इत्यादि।

इसलिए, यह सत्य नहीं है। यह आपेक्षिक-सत्य अथवा असत्य है।

आपेक्षिक-सत्य (*relative truth*) वा मिथ्या, देश, काल और पात्र के ऊपर निर्भरशील है। चाँद दूर से एक थाली के समान दिखलाई देता है परन्तु ज्यों-ज्यों कोई उसके समीप जाता है, वह बड़ा होता हुआ दिखलाई पड़ता है। तब वास्तव में वह कितना बड़ा है? छोटा और बड़ा दूरत्व पर निर्भर करता है, देश के ऊपर निर्भर करता है। अतएव यह परम-सत्य नहीं है, आपेक्षिक-सत्य है। भागलपुर से मुँगेर जाने के लिए निकटतम रास्ता पश्चिम की ओर होगी, किन्तु भागलपुर से पूरब की ओर से भी पृथिवी घूम कर हम मुँगेर पहुँच सकते है। यह तो एक मात्र देश पर ही निर्भर करता है। तब इसे परम-सत्य किस तरह कहा जा सकता है। जिनको आँखों में पाण्डु रोग है, वे सभी वस्तुओं को पीली ही देखेंगे। किन्तु अन्य व्यक्ति उन वस्तुओं को दूसरे रूप में देखेंगे। यह पात्र के ऊपर निर्भर करता है, अतएव वे परम-सत्य नहीं हैं। इसलिए एकमात्र परमात्मा ही परम-सत्य (*Absolute-truth*) हैं। देश और पात्र पर विचार करके देखा गया कि वे परम-सत्य नहीं हैं। अब काल के ऊपर विचार करना है। एक ऐतिहासिक घटना कहाँ तक सत्य कही जा सकती है। मान लें, महाभारत का युद्ध ३२१३ साल पहले हुआ था। हमलोगों को

आलोक (*light*) के द्वारा दर्शन-ज्ञान होता है। तुम आकाश के तारों को तभी देखते हो जब उनकी रश्मि (*light*) तुम्हारे नेत्र के गोलक पर पड़ती है। महाभारत के युग की रश्मि को किसी तारा पर पहुँचने में मान लो अभी आठ सौ वर्ष और लगेंगे। इसी समय वहाँ से यदि कोई दूरबीन की सहायता से पृथिवी की ओर देखे, तब वह पृथिवी पर क्या देखेगा ? वह देखेगा, अभी भी यहाँ महाभारत का युद्ध नहीं हुआ है। आठ सौ वर्षों के बाद होगा और आठ सौ वर्षों के बाद सचमुच में वह महाभारत का युद्ध होता हुआ देखेगा। किसी के लिए जो अतीत है वही किसी के लिए वर्त्तमान और किसी के लिए भविष्य है। यह सभी आपेक्षिक-सत्य (*Relative truth*) है। अब शब्द का भी व्यापार देखना चाहिए। अधिक जोर से बोलने पर कोई कहेगा चिल्लाता है, परन्तु बहरा व्यक्ति कहेगा कि वह बहुत धीरे-धीरे बोल रहा है।

अन्नमय, मनोमय, अतिमानस, विज्ञानमय, हिरण्मय-कोष तब उसके बाद सत्य है। सत्य में प्रतिष्ठित होने से त्रिकालज्ञ हो वे ही सत्यद्रष्टा हो जाते हैं। उनके लिए कहीं कोई भेद नहीं है। ब्रह्म में प्रतिष्ठित होना कठिन है, किन्तु ब्रह्म में प्रतिष्ठित होने पर कोई भेद नहीं रहता। मनुष्य साधना करने पर, मन को लुप्त करने पर, त्रिकालज्ञ हो सकता है। मन को लुप्त करना ही होगा, क्योंकि यह

आपेक्षिक-सत्य है और इसी के कारण मनुष्य परम-सत्य को जानने का अधिकारी नहीं होता है ।

जहाँ क्रिया है, वहीं गतिशीलता है । क्रिया की गतिशीलता के मानसिक-परिमाप (*mental measurement*) का नाम काल है। जहाँ क्रिया नहीं है, वहाँ मन भी नहीं है। इसीलिए काल भी नहीं है । यदि कोई तीन घण्टे अचेत अवस्था में रहे तो तीन घण्टा के बीतने का उसको बोध नहीं होगा । क्रिया और मन आपेक्षिक-सत्य (*relative truth*) हैं, इसलिए काल भी आपेक्षिक-सत्य है । काल, देश और पात्र पर निर्भरशील है, देश और पात्र काल के ऊपर । लोग जो कहते है कि काल एक अनादि, अविच्छिन्न और अनन्त-सत्ता है, यह बात सत्य नहीं है। देश और पात्र के नहीं रहने पर काल रह नहीं सकता है।

मनुष्य छोटी या बड़ी सभी वस्तुओं मे सुख पाता है या पाना चाहता है, किन्तु आपेक्षिक-सत्य मे कालातीत आनन्द नहीं प्राप्त कर सकता है । इसलिए बुद्धिमान्-जन कालातीत-सत्ता की ही साधना करते है । देह, मन ये सब कालातीत नहीं है। इनके पीछे दौड़ना मूर्खता है । इनकी देखभाल उचित है, किन्तु इन सबकी साधना नहीं करनी है । कालातीत-सत्ता में प्रतिष्ठित होने के लिए ही साधना करनी है।

(आनन्द-पूर्णिमा—६ मई १९५५)

बृहत् का आह्वान

कोष शब्द का अर्थ आधार है। यह जो सप्तलोक और पञ्चकोष है, क्या आत्मा से भिन्न वस्तु है? इसके बीच क्या आधार और आधृत का सम्बन्ध है? यदि कहा जाय "एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" तब आधार और आधृत में कौन ब्रह्म है और कौन ब्रह्म नहीं है? आधार और आधृत में यदि एक को ब्रह्म स्वीकार कर लिया जाय तब बाकी क्या ब्रह्म नहीं है? यदि कहा जाय कि सप्तलोक और पञ्चकोष ये सब ब्रह्म के आधार हैं, तब ब्रह्म के बाहर भी कोई अन्य अस्तित्व स्वीकार करना होता है। जैसे, मान लो, घर में मनुष्य है। यहाँ पर घर मनुष्य से एक पृथक् सत्ता है। घर आधार हुआ और मनुष्य आधृत। अतएव घर मनुष्य से पृथक् है। पञ्चकोष में आत्मा आधृत है और कोष आधार है। आधार आधेय से बड़ा होता है। यह नहीं होने से वह धारण किस तरह कर सकेगा? परमात्मा से बृहत् और कुछ नहीं है, अतएव उसका आधार नहीं हो सकता है। तब क्या पञ्चकोश और सप्तलोक नहीं

है ? हाँ, सप्तलोक को लेकर ही ब्रह्म है। इसका समन्वय ही ब्रह्म है। पञ्चकोष को लेकर ही जीव है। जीव और ब्रह्म में सामान्य भेद रहता है। जीव में दो "मैं" का बोध है। एक है उसका मायिक मन, दूसरा है ज्ञानघन अवस्था, परमात्म-स्वरूप का प्रतिबिम्बित विकाश, उसकी जीवात्मा। जीवात्मा जीव का प्रकृत 'मैं' है। इस सप्तलोक के मध्य केवल सत्यलोक में ही ब्रह्म अविकृत है और बाकी छः लोक माया के द्वारा प्रभावित है। इसको इस तरह कहा जा सकता है कि अविकृत ब्रह्म जो अक्षर ब्रह्म होकर परिदृश्यमान्-जगत् में व्याप्त है, उसका आधार यह षट्लोक है। ब्रह्म का कोई आधार नहीं होता है। ब्रह्म में ही बाकी षट्लोक सृष्ट हैं— उसी के मध्य में। तब क्या प्रकाश मूल वस्तु से भिन्न है ? षट्लोक उसका विकाश मात्र है— उसी का प्रकाश है—ठीक आधार और आधेय का सम्पर्क नहीं। जीवात्मा और परमात्मा में उसी क्षण तक भेद है, जब तक जीवभाव रहता है।

जीवात्मा और परमात्मा का क्या सम्पर्क है ? जीव क्या है ? स्थूल शरीर का आधार कोष होता है। यहाँ पर आधार आधेय से बड़ा है। काममय-कोष अन्नमय-कोष से बड़ा है। मनोमय-कोष काममय-कोष से बड़ा है। अतिमानस-कोष इससे भी बड़ा है। विज्ञानमय-कोष और बड़ा है। हिरण्मय-कोष उससे भी बड़ा है और सबसे बड़ा सत्यलोक है। ये सब अभिव्यक्तियाँ जीव-मध्य में ही हैं। किन्तु ये सब

उसके आधार ही हैं। अब आधार-आधेय का सम्बन्ध क्या है? इनका सम्बन्ध वस्तुभाव (*subjective*) और कर्मभाव (*objective*) के समान है। जैसे, शरीर विषय है—उसका विषयी मन होता है अर्थात् हमारा शरीर हमारे मन का विषय है और मन उसमें लिप्त होकर रहता है। शरीर मन का आधार है। अतः मन अपने आधार में लिप्त है।

मन की सूक्ष्मतम अवस्था "मैं हूँ" का बोध है महत्-तत्त्व। प्रत्येक जीव में एक "मैं हूँ" का भाव है। जहाँ आत्मा एक विशेष "मैं हूँ" का भाव लिए रहती है, उस समय वह जीव है। जिस समय आत्मा व्यक्ति विशेष का ज्ञातृभाव लेकर रहती है, हमलोग उसको आत्मा कहते हैं। जिस समय आत्मा श्याम बाबू का ज्ञातृभाव लेकर रहती है उस समय हमलोग कहेंगे श्याम बाबू की आत्मा। प्रत्येक जीव में काममय से हिरण्मय-कोष तक मन को मनन करने का स्तर रहता है। इस मनन करने की शक्ति के पीछे जो ज्ञाता है, वही है आत्मा। छोटे-बड़े का सम्पर्क नहीं है। सम्पर्क है विषय और विषयी का। मन है शरीर का मननकारी विषयी और आत्मा है मन का ज्ञानकारी विषयी। तब सचमुच में क्या अनन्त-संख्यक आत्माएँ हैं? उन में पार्थक्य क्या है? यही न कि—केवल विषय-भेद के कारण ही लोग एक आत्मा को अनन्त भाव से समझते हैं। अनेक मन के पीछे जब एक ही ज्ञातृशक्ति (सगुणब्रह्म)

विद्यमान् है, तब एकक--भाव से देखने पर, जीव की क्षर और अक्षर अवस्था अर्थात् प्रकृति के अधीन और प्रकृति से मुक्त अवस्था में, ब्रह्म ज्ञाता के ज्ञाता बनकर रहते हैं। ज्ञेय एवं ज्ञाता, क्षर एवं अक्षर हैं सगुण ब्रह्म। जो पूर्ण क्षर और पूर्ण अक्षर हैं, वही हैं ब्रह्म और टुकड़ा वा छाया क्षर वा तत्सह टुकड़ा वा छाया अक्षर ही जीवभाव है। निर्गुण क्षर भी नहीं, अक्षर भी नहीं, दोनों से परे है, पूर्ण मुक्त है।

सगुण ब्रह्म (मिलित अक्षर) का प्रभाव क्या अणु (unit) अक्षर पर नहीं है? अवश्य है।

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः
तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद्
भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः

Ksaram pradhánamamrtákṣaram haraḥ
ksaratmánávishate deva ekah
Tasyá bhidhyánád yojanát tattvabhácad
bhúyashcánte vishvamáyá nivrttih.

प्रकृति क्षर है और पुरुष अक्षर। इसके ऊर्ध्व सगुण ब्रह्म नियामक रूप में है और यहाँ पर उनका नाम ईश्वर वा पुरुषोत्तम है। उनमें लिप्त रहने से मनुष्य विश्वमाया से निष्कृति पाता है। निष्कृति किस तरह पाई जाती है? एक जीव का विषय क्या है? मैं राम अथवा श्याम हूँ!

यह राम और श्याम अपने दृष्टिकोण से जगत् को देखता है। मन का जैसा विषय है वह वैसा ही हो जाता है। अतएव मन जब उनको अपना विषय बना लेगा तब वह भी उन्हीं के समान बन जायगा। ब्रह्म-भावना लेते-लेते वह अनन्त हो जाता है और जगत् को उन्हीं में देखता है। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है कि—"ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति"

जब क्षुद्र में (unit I) उनके 'मैं' में अर्थात् बृहत-मैं (collective or cosmic I) में रूपान्तरित हो जाता है तब उसकी आत्मा भूमा--मैं रूप (collective I) की आत्मा में अर्थात् सगुण-ब्रह्म को आत्मा (मिलित--अक्षर) में मिल कर एक हो जाती है।

दैनिक जीवन में मनुष्य अपने अस्तित्व को स्थूलतम अवस्था में रखता है। यहाँ मन का विषय जड़ वस्तु है। मन का विषय जड़ होने से वह भी स्वयं जड़ हो जाता है। मनुष्य की प्रथम चिन्ता अन्न वस्त्र की, काममय-कोष की चिन्ता है। यहाँ मन का सम्पर्क स्थूल वस्तु से रहता है। यहाँ श्रेष्ठत्व अर्जन करने का सुयोग कहाँ तक रहेगा? इस तरह का भाव पशुओं में भी है।

आहार निद्राभय मैथुनञ्चसामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्म्मोहि तेषामधिको विशेषो धर्मेन हीना पशुभिः समाना ॥

Ahára nidrábhaya
maethunain casá mányametad pashubhirnará ám
Dharmohi tesá madhiko vishesó
dharmena hiiná pashubhih samá náh.

आहार, निद्रा, भय, मैथुन-प्रवृत्ति वृत्ति पशु और मनुष्यों में समभाव से है। तब पशु और मनुष्य में अन्तर कहाँ है? वास्तव में मनुष्य और पशु का अन्तर धर्मगत है। मनुष्य धर्म साधना करता है, पशु नहीं करता। मनुष्य-शरीर पाकर जो धर्म साधना नहीं करता है, वह पशु समान है।

मनुष्य अपनी इच्छानुसार ही स्थूल से स्थूलतम की ओर, सूक्ष्म से सूक्ष्मतम की ओर जा सकता है। इस तरह अनेक मतवाद हैं, जिनका आधार केवल काममय कोष है। वहाँ केवल अर्थनैतिक तत्व ही एकमात्र तत्व है। (economic factor is the only factor) काममय एक कोष मात्र है, किन्तु मनुष्य एक-मात्र उसी कोष को लेकर तो नहीं है? काममय-कोष तो वृक्षों में भी है, इसीलिए तो वे मिट्टी, जल, वायु से प्राण-शक्ति ग्रहण करते हैं। जिसको केवल अन्नमय-कोष है, उसके अन्य सब कोष प्रसुप्त हैं। मन जड़ होकर रहता है, इसीलिए "मैं हूँ" का बोध नहीं है। इसी कारण, आत्मा में भी ज्ञातृत्व नहीं है। मन सुषुप्त (sleeping, dormant or latent) अवस्था में है, इसीलिए उसमें परमात्मा की छाया-रूप जीवात्मा प्रतिफलित नहीं होती।

केवल अन्नमयवाद मनुष्य को जड़ बना देगा, क्यों

कि वह मन को ऊपर उठने नहीं देता है। दार्शनिक मतवाद में मनोमय-कोष को लेकर इस पर मनन करने का थोड़ा सुयोग है। मानसिकता भेद के कारण ही भिन्न-भिन्न दार्शनिक मतवाद हैं— बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई प्रभृति। किन्तु प्रकृत अध्यात्म विद्या में ही सूक्ष्म से सूक्ष्मतम वस्तु से लेकर आत्मा पर्यन्त तक की चर्चा पाई जाती है। मन आत्मा का विषय है। आत्मा तक पहुँचने के लिए मन को मूल विषय में मिला दो। विषय को विषयी में मिला दो। इन दोनों का सम्पर्क उसी तरह है जैसे तुम और तुम्हारा हाथ। आत्मोपलब्धि के लिए एक ही रास्ता है और वह है मन को मन के ज्ञाता में मिला देना—आत्मा के स्थूल विकाश को हटा दो। यह किस तरह सम्भव है? वृत्तियों को अन्तर्मुखी करने पर ही यह सम्भव है और ज्ञान एवं साधना के द्वारा ही वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं। जब तक एक-एक कोष की उपलब्धि नहीं होती है तब तक अन्तर्मुखी होना सम्भव नहीं है। जब मन में यह भास होगा कि शरीर मन का आधार है तभी तुम समझोगे कि साधना में अग्रगति हो रही है अर्थात् प्रत्येक कोष का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। इस के लिए जानना होगा कि किस कोष का शेष कहाँ होता है और किस कोष का आरम्भ कहाँ से होता है। मन दो हैं—एक कच्चा, दूसरा पक्का। एक अन्तर्मुखी, दूसरा बहिर्मुखी। इन पञ्च—कोषों का

ज्ञान होने मे ही पूर्ण ज्ञान होगा। उदाहरण-स्वरूप जैसे पका आम। पके आम का गूदा और गुठली एक साथ रहने पर भी सचमुच मैं दोनो पृथक्-पृथक् हैं। पका होने का अर्थ है सिद्ध होना।

धर्म और मतवाद में यही पार्थक्य है। धर्म प्रत्येक कोष को पक्का कर देता है तभी मनुष्य साधना में पक्का हो सकता है। पक्का होने पर ही मूलसत्ता मे बाकी अंश पृथक्-रूप मे पकड़ा जा सकता है। साधना के पीछे दर्शन (Philosophy) है अर्थात् उसके समर्थन के लिए युक्ति-शास्त्र है। प्राचीनकाल में अनेक लोग समझते थे कि भारतवर्ष ही केवल जगत् है। काममय कोष के बाहर जाने की चिन्ता उन लोगों ने कभी नहीं की। यदि वे अपनी मानससत्ता का और अधिक अनुशीलन करते तब समझ पाते कि यह उन लोगों की एकदम भूल धारणा थी। आजकल अनेक आधुनिक दर्शन केवल अर्थवादी हैं। वे अपने सम्पूर्ण मन को काम में नहीं लगाते हैं। इसीलिए उनको यथार्थ दर्शन के तुल्य नहीं समझा जा सकता है। मन की प्रत्येक धारा का अनुशीलन करने के बाद जिस शास्त्र की चर्चाभूमि आत्मा के पूर्णतम स्तर में पहुँचाती है, उसी को सचमुच में वास्तविक दर्शन कहेंगे, शेष विभिन्न मतवाद-पंथी केवल तर्क-शास्त्र हैं।

मतवाद वा मजहब वा रेलिजन (Religion) क्या

है? कोई कहता है मूर्त्तिपूजा करो, कोई कहता है गङ्गा स्नान करो। मन में ही इन सब की सृष्टि होती है और मन में ही लय होता है। सुख और स्वर्ग, दुःख और नरक सब मन के भीतर ही है-स्थूल जगत् में। मनोमय जगत् में ही इनका लय होता है। उनको आत्मा केवल मनोमय कोष में ही है और वे हैं "भुक्त्वे न तु मुक्त्वे।"

किसी मतवाद में देहान्त के बाद सुख की बात है, किन्तु वह सुख कौन भोग करेगा? मन ही तो? स्थूल आधार मस्तिष्क के नष्ट हो जाने पर मन कहाँ रहता है! फिर कौन भोगेगा? आत्मा तो ज्ञाता बनकर अखण्ड भाव मे सर्वत्र ही है, इसके चलने का प्रश्न ही नहीं उठता है। कब्र में आत्मा नहीं है और न उसके वहाँ से उठने का प्रश्न ही उठता है। इस जातीय-मतवाद मे सचमुच मनोमयकोष को ही आत्मा वा रूह कहते हैं। केवल आत्मा रहने मे सुख-दुःख का भय नहीं रहता है।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।
Anejadekam manaso javiyo
naenaddevá ápnuvan purvamarshat.
Taddhávato'nyá natyeti tisthat
tasminnapo mátarishva dadháti.

साधारणतः मनोमयकोष में ही मतवादों का लय हो

जाता है। मूर्त्ति-पूजा का पथ अतिमानस स्तर तक मनुष्य को पहुँचा सकता है, उसके ऊपर नहीं। इसीलिए अनेक व्यक्ति मूर्त्ति की चिन्ता कर सुख प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु परमात्मा में मिलना नहीं चाहते, वे परमात्मा के सम्पर्क में रहकर अनन्तकाल तक उनकी सेवा करना चाहते है। बौद्ध-मत इससे भी ऊपर पहुँचाता है। वह संस्कार निवृत्ति के विषय में भी कहता है। "मैंपन" के अस्तित्व का नाश करने को ही मेरा लय कहते हैं, किन्तु "मैं" को नाश कौन करेगा ? मैं ही न 'मैंपन' का नाश करेगा ! बुद्ध आत्मा को नहीं मानते, किन्तु 'मैंपन' के नाश की बात कहते हैं। इसीलिए इस मैंपन को मन की ही सूक्ष्मतम अवस्था को छोड़कर और क्या कहेंगे ?

हिरण्मय कोष में मन की सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति है, महत्-तत्त्व का प्रथम स्फुरण है। बृहत्-भाव से इस कोष में स्थित होने का ही नाम सविकल्प-समाधि है। हिरण्मय कौषिक-सत्ता जब संस्कार के प्रभाव को अतिक्रमण कर निष्कल ब्रह्म में मिल जाती है तभी हम इसको निर्विकल्प-समाधि कहते हैं।

काममयकोष में जिसकी स्थिति है, वे कहेंगे कि चोरी करना उचित नहीं है, क्योंकि यदि हम चोरी करेंगे तब दूसरे भी हमारे घर में चोरी करेंगे। जड़वादियों की विचारधारा का यही रूप है। इसमें स्वार्थ-भाव निहित है।

मन को पवित्र रखने के लिए चोरी नहीं करो। यही ठीक विचार हुआ।

पञ्चकोश को ही पक्का तैयार करना होगा। किन्तु यह करना किस तरह सम्भव है? यम-नियम साधन के द्वारा ही इनको पक्का तैयार किया जा सकता है। आसन के द्वारा अन्नमय-कोश पक्का होता है। यम-नियम साधना से काममय-कोश पक्का होता है। प्राणायाम द्वारा मनोमय कोश पक्का होता है। प्रत्याहार(वर्णार्घ्य) द्वारा अतिमानस-कोश तैयार किया जाता है। विज्ञानमय-कोश को धारणा के द्वारा और हिरण्मय-कोश को ध्यान के द्वारा पक्का किया जाता है। ध्यानसमाधि के द्वारा ही आत्मा में पहुँचना होगा। जो पञ्चकोश को पक्का करने की चेष्टा में रत हैं, वे ही धार्मिक हैं। मनुष्य की सत्ता पाञ्चकौशिक है और साधना अष्टाङ्गिक है। यही साधना धर्म है। जिसमें पाञ्चकौशिक-स्तर की शुद्धि के लिए साधना नहीं है, वह धर्म नहीं है, मतवाद है।

अष्टाङ्गिक योग को धर्म क्यों कहते हैं? सुख पाना ही धर्म है और आत्मा में पहुँचने से ही प्रकृत सुख प्राप्त होता है, बाकी सब कोशों में खण्ड-सुख है। जब तक आत्मा में पहुँच नहीं होती है तब तक प्रत्येक कोश की ही साधना करनी होगी। प्रत्येक कोश के ऊपर ही दृष्टि रखनी होगी। एक को छोड़ कर अन्य की साधना नहीं हो सकती

है। जहाँ पूर्ण सुख है वहीं धर्म है और बाकी सब आपात-सुख मतवाद हैं। शेष सभी प्रेय हैं और धर्म होता है श्रेय। शेष सब जड़ात्मक हैं और धर्म चैतन्यात्मक है। जिस के द्वारा जीव धृत होता है, वही धर्म है। अग्नि का धर्म जलाना है और जीव का धर्म सुख प्राप्त करना है। जहाँ वृत्ति प्रेय की साधना करती है, वहाँ अविद्या-माया है और जहाँ श्रेय की साधना की जाती है वहाँ विद्यामाया रहती है। स्वर्ग का सुख और नरक का भय मन में ही रहता है। धर्म में भय नहीं, कारण धर्म मे तो निजस्वरूप में स्थिति लाभ होती है। आनन्दमार्ग ही धर्म है, शेष सभी मतवाद हैं।

मनुष्य जो धर्म साधना करता है उसकी प्रेरणा सगुण-ब्रह्म से ही पाता है। इसी कारण मनुष्य को सगुण-ब्रह्म के निकट कृतज्ञ होना उचित है, क्योंकि उसी की कृपा से तो वह धर्मसाधना का अधिकार पाता है। जो मनुष्य धर्म साधना नहीं करता है, वह वृक्ष से भी हीन है। कारण, वृक्ष को साधना का अधिकार नहीं है, किन्तु मनुष्य को साधना का अधिकार है। बुद्धिमान् इस अधिकार का सद्-व्यवहार करते है। जो नहीं करते हैं, वे निर्बोध हैं। तुमने ब्राह्मी कृपा पाई है, अर्थात् मानव शरीर पाया है। इस कृपा का उचित व्यवहार करो। इस स्वर्ण-सुयोग को हाथ से नहीं जाने दो।

(१) कृष्ण नाम हरिनाम बड़ इ मधुर
जेइ जन कृष्ण भजे से बड़ चतुर (नरोत्तमदास)
(२) दिन गेल्लो मिछे काजे रात्रि गेल्लो निद्रे
ना भजिनु राधाकृष्ण चरणारविन्दे (नरोत्तमदास)

तुमने मनुष्य का शरीर पाया है। तुम भाग्यवान् हो जो तुमको पत्थर वा वृक्ष होकर नहीं रहना पड़ा। सब जगत् के ऊपर ही ब्रह्म की कृपा है। किन्तु मनुष्य के ऊपर उनकी विशेष कृपा है। इसीलिए मनुष्य ने साधना करने का अधिकार पाया है। मनुष्य को सद्गुरु-रूप में साधना सिखाना भी ब्रह्म की विशेष कृपा है। विराट्-पुरुष जब अपर (दूसरे) पुरुष को आकर्षण करता है, तो क्या यह उनकी विशेष कृपा नहीं है।

एक पुरुष जब अपर पुरुष के हिरण्मय--कोश को आकर्षण करता है, उस समय उसे ब्राह्मी--विद्या कहा जाता है। हिरण्मय-कोश को जो पुरुष आकर्षण करता है वही उत्तम गुरु हैं।

एक पुरुष का हिरण्मय-कोश जब दूसरे पुरुष के विज्ञानमय-कोश को आकर्षण करता है तब उसको दैवी विद्या कहा जाता है। इस रूप आकर्षणकारी पुरुष को मध्यम गुरु कहा जाता है। एक पुरुष का विज्ञानमय-कोश जब अपर (दूसरा) पुरुष के अतिमानस-कोश को आकर्षण करता है तब

वह गान्धर्व-विद्या कही जाती है। इस रूप में आकर्षणकारी पुरुष को मध्यम गुरु कहा जाता है। ये लोग सुमधुर कीर्त्तनादि के द्वारा शिष्य के मन में धर्म भाव जाग्रत करते हैं। एक का अतिमानस-कोश यदि अन्य व्यक्ति के मनोमय-कोश को आकर्षित करता है तब उसे राक्षसी वा पैशाची विद्या कही जाती है। एक का मनोमय-कोश यदि अन्य के काममय-कोश पर आकर्षण डालता है तब वह भूत-विद्या (Hypnotism) कही जाती है। काममय-कोश यदि अन्नमय-कोश पर आकर्षण डाले तो उसको जड़शक्ति (Physical attraction force) कही जाती है। सगुण-ब्रह्म जीव पर ब्राह्मी-कृपा करते है। इसका उचित व्यवहार करो। कृपा मिली है- उसका सद्व्यवहार करो। किस तरह? आत्मागत और विषयगत भेद को मिटाकर निर्गुण-ब्रह्म में स्थिति लाभ करो।

साधना का चरम उद्देश्य निर्गुण में स्थिति प्राप्त करना है और वही परागति है। साधक कहते हैं—

निवेदयामि चात्मानं त्वं गतिपरमेश्वरः।

Nivedayámi cátmánam tvam gatiparameshvarah.

हे मनुष्यों! तुम भाग्यवान् हो। तुम्हारे पास बृहत् का आह्वान आया है। केवल आह्वान ही नहीं आया है, तुम श्रवण भी कर रहे हो। तुम्हारी सत्ता के अणु-परमाणु में वही आह्वान स्पन्दित हो रहा है। अब क्या तुम जड़

तुल्य होकर घर के कोने में पड़े रहोगे ? अब क्या तुम पुरातन कंकाल को अपनी छाती में चिपका रो-रो कर समय नष्ट करोगे ? परम-पुरुष तुम्हें पुकार रहे हैं—समुद्र के गर्जन में, मेघ के हुँकार में, विद्युत की गति में, उल्का की अनल-ज्वाला में। बैठे रहने से तो काम नहीं चलेगा। जागो, अपने प्रसुप्त-यौवन के तमसाच्छन्न-पौरुष को जगाओ। हो सकता है कि यह पथ पुष्पाच्छादित नहीं हो, क्षुद्रत्व का शृंखल तुम्हारे प्रत्येक पदविक्षेप को कसकर पकड़ रखना चाहता हो, तब भी तुम्हें महातमिस्रा के वक्ष को भेद कर आगे बढ़ना ही होगा। परमास्थिति के पथ में तुम शीघ्र ही सघन नैराश्य की कालिमा को भेदकर सौरद्युतिमय द्रुतगामी रथ पर आरोहण होकर आगे बढ़ोगे।

(ज्येष्ठ पूर्णिमा—१९५५)

भक्तितत्त्व

भक्ति शब्द का अर्थ भजना है। भजना करने के लिए जो भजना करते हैं और जिनकी भजना की जाती है, इन दोनों सत्ताओं की उपस्थिति अपरिहार्य है। इसीलिए जब तक भक्त और भगवान् का भेद है तब तक भक्ति साधना का सुयोग और प्रयोजन रह जाता है।

भक्ति का अर्थ है परानुरक्ति —

'सा परानुरक्तिरीश्वरे'

Sā parānuraktiriishvare.

यहाँ पर देखना चाहिए कि परानुरक्ति का अर्थ क्या है? रक्ति शब्द का अर्थ राग वा आकर्षण है। अनुरक्ति का अर्थ होता है किसी वस्तु की सत्ता को समझ, उसके प्रति राग रखना वा उससे आकर्षित होना। अनुरक्ति दो प्रकार की होती है। परब्रह्म वा अखण्ड-पुरुष-सत्ता के प्रति जो अनुरक्ति है, वह परानुरक्ति और अपर-ब्रह्म वा ब्रह्म का प्रकृति-गुणान्वित मानस वा जड़-विकाश के प्रति जो अनुरक्ति है, वह अपरा-अनुरक्ति है। ईश्वर परानुरक्ति का विषय

है। साधक जब उसको अपना लेते हैं तो वही भजना या भक्ति कही जाती है।

यह समझना होगा कि मन के अन्तर्मुखी या बर्हिमुखी गतिभेद से ही अनुरक्ति दो प्रकार की होती है। स्पष्ट शब्दों में यह है कि बर्हिमुखी-गति अपरानुरक्ति और अन्तर्मुखी-गति परानुरक्ति है। बर्हिमुखी-गति मनुष्य को इन्द्रियों का दास बनाकर उसकी सत्ता को जड़ बना देती है। वह अपने आत्मिक-ऐतिह्य को खो बैठता है। परानुरक्ति उसको इन्द्रिय ग्रास से हटाकर सूक्ष्म मनन-शीलता के भीतर से अतीन्द्रियत्व में प्रतिष्ठित करती है-- लोकोत्तर परमा-प्रशान्ति में प्रतिष्ठित करती है।

अब प्रश्न यह उठता है कि भक्ति जीवों के लिए स्वाभाविक है या अस्वाभाविक। परिदृश्यमान्-जगत् में चेतन-प्रधान जड़प्रधान जो कुछ हम देखते हैं, ये सब एक दूसरों को आकर्षण कर रहे हैं। यह आकर्षण ही सृष्ट जगत् का धर्म है और फलस्वरूप ब्राह्मी चिन्ताधारा की निर-विच्छिन्नता ठीक बनी रहती है। इसीलिए कहता हूँ कि आकर्षण प्रत्येक सत्ता में स्वाभाविक है। इस विराट् महाशून्य में में दोदुल्यमान्, ज्योतिष्कपुञ्ज के एक दूसरे को आकर्षण करते रहने से ही महाकाश में भारसाम्य रक्षित है। इसमें प्रत्येक ग्रह-उपग्रह का एकान्तभाव से अपने को बचाने की चेष्टा है। मनुष्य सुजला, सुफला, शस्य-श्यामला भूमि की ओर

ही दौड़कर एकत्र होता है, क्यों कि वहीं उसके लिए अपने को बचाने का प्रचुर उपकरण उपलब्ध होता रहता है। मधुमक्खी अपने प्राण धारण के लिए ही मधु-आहरण के उद्देश्य मे फूलों की ओर दौड़ती रहती है। देखा जाता है कि प्रत्येक सत्ता अपने उसी आश्रय की ओर अधिक भागती है जो आश्रय जितना अधिक स्थायी और निरापद है तथा जो उसको जितने अधिक काल तक निर्भावना से बचा कर रख सकता है। मनुष्य रुपए की ओर इसीलिए दौड़ता है कि वह जानता है कि रुपयों के आश्रय मे वह जीवित रह सकेगा अर्थात् रुपया ही उसको बचा सकेगा, किन्तु वह यह नहीं जानता है कि यह रुपया उसे न तो स्थायी भरोसा दे सकेगा और न दृढ़भित्तिक-आश्रय ही। उसके जीवन काल में ही, कितनी बार रुपया आएगा और जाएगा। कभी उसकी चमक उसकी आँखों को चकाचौंध में डाल देगी और कभी क्षुधा-पीड़ित कर उसको रुलायेगी।

केवल रुपया ही क्यों, समस्त खण्ड-वस्तुओं का ऐसा स्वभाव है। उनकी सीमित-सत्ता के एक अंश भोग के उद्देश्य से व्यवहार करते रहने पर शीघ्र हो वा विलम्ब से, उनकी शेष सीमा तो आएगी ही। इससे यह पता चलता है कि जिसमें असीमता नहीं है, वह स्थायी भाव से तुम्हारा भोग्य नहीं हो सकेगा। अतएव वह तुम्हारा स्थायी आश्रय नहीं हो सकता। क्योंकि इन सबों का अस्तित्व पर-निर्भर-

शील,—देश, काल और पात्र की रेखाओं मे घिरा हुआ है।

इस खण्ड-आकर्षण को दार्शनिक भाषा में आसक्ति कहते हैं और अखण्ड के प्रति आकर्षण को भक्ति कहेंगे, किन्तु राग या रक्ति कहने से ये दोनों ही समझी जाती हैं।

सा कस्मै परमप्रेमरूपा

Sá kasmac parama premarúpá

अर्थात् भक्ति प्रेमरूपिणी है और जो 'क' अक्षरात्मक ईश्वर हैं, उनके प्रति यही प्रेम निवेदित किया जाता है (वैदिक भाषा में 'क' शब्द का अर्थ ईश्वर है) यह ईश्वर स्वयं ही अनिर्वचनीय हैं, वे विश्व के प्राण-केन्द्र हैं, वे परमप्रेमस्वरूप हैं।

स ईश्वर अनिर्वचनीय परम प्रेमस्वरूप:

Sa iishvara anirvacaniiya parama premasvarúpah

पुरुष और प्रकृति—प्रकृति के प्रभाव से जहाँ पुरुष में विकृति आती है, वहीं मन सृष्ट होता है। मन की कर्मधारा का ग्राहक वा वाहक इन्द्रिय-समूह हैं। इसीलिए देखा जाता है कि मन जागतिक समस्त कार्यों का लौकिक ज्ञाता या विषयी है। वही मन विशुष्क ज्ञाता पुरुष का विषय है और पुरुष है उसका विषयी (ज्ञातृत्व-निबन्धन)। यही मन रूप विषय के पुरुष-रूप विषयी में समाहित होने पर विषय-विषयी का भेद-ज्ञान नहीं रहता है। साधक की यही स्वरूपस्थिति है। किन्तु मन जब अविद्या से परिचालित

होता है अर्थात् भोगात्मक-भाव लेकर खण्ड-वस्तु की ओर दौड़ता है तब मन की उस बहिर्मुखी-भाव की चरम-परिणति स्थूल-विषय में होती है, चाहे यह विषय उसका मनसृष्ट हो या पञ्चभूतात्मक-जड़-जगत् से आहृत हो।

अविद्याश्रयी मानव जिस दुर्दान्त वेग से खण्ड-वस्तु की ओर दौड़ता है, उसी वेग से यदि वह अन्तर्लोक में में निज जीवन-देवता की ओर दौड़े तो परमब्रह्म को प्राप्त कर सकता है— अपने परमपद को पा सकता है।

भक्त कहते हैं—

या प्रीतिरविवेकिना विषयेष्वनपायिनी
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान् मापसर्पतु (विष्णुपुराण)

Yá prítiravivekiná m̐ viśayeśvanapáyinu
Tvá manusmaratah sá me hrdayán má pasarpatu
(*Visnupurá n̐a*)

अर्थात् अविवेकी मनुष्यों के मन का विषय के प्रति जो दुर्दमनीय आवेग रहता है, हे ईश्वर! तुम्हारा स्मरण करने से तुम्हारे प्रति वही प्रेम अक्षय होकर रहे।

तुम निश्चय ही समझते हो कि प्रकृत-भक्ति कभी भी खण्डसत्ता के ऊपर नहीं हो सकती है। कारण, खण्डसत्ता का अस्तित्व बहिर्मुखी-भाव के द्वारा उपलब्ध होता है। किन्तु दुःख के साथ देखता हूँ कि अधिकांश मनुष्य अपने

प्रेम, अपनी भक्ति को खण्ड में सीमित रखने के लिए ही साधना करते हैं। इसका परिणाम क्या होता है? वे प्रेम की व्यापकता नहीं पाते हैं। वे नहीं समझते हैं कि इस विराट्-विश्व की प्रत्येक अणुसत्ता उसी भूमापुरुष का लीलामय विकाश है—उनकी उच्छल अभिव्यक्ति है। वे देव-विग्रह की प्रतिष्ठा में लाखों रुपए खर्च करते हैं, किन्तु पीड़ित-मानव के दुःख को देखकर वे द्रवित नहीं होते। देवी की तुष्टि के लिए निरपराध छाग-शिशु की निर्मम हत्या करने में उन्हें जरा भी हिचकिचाहट नहीं होती।

विस्तार सर्व भूतस्य विष्णोर्विश्वमिदं जगत्।
द्रष्टव्यमात्मवत्तस्मादभेदेन विचक्षणैः॥ (विष्णुपुराण)

Vistára sarva bhútasya
vis'norvishvamidam jagat.
Drash'tavyamátmavattasmádabhedena
vicaks'aṇaih. (*Vis'nupurá'a*)

यह जगत् एक गतिशील-सत्ता है (The world is a changing phenomenon) इसलिए परिवर्त्तनशील-जगत् में किसी विशेष-सत्ता के प्रति आकर्षण रखना मूर्खता है। देशकाल के भेदानुसार उसका नाम रूप परिवर्त्तित हो जायगा। बालक युवक में, युवक वृद्ध में और वृद्ध मृत में परिणत होगा ही। किन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति यदि जगत् की प्रत्येक सत्ता को एक ही विष्णु की अभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण

करें, तब उन्हीं के बीच किसी विशेष-सत्ता के नाम रूप परिवर्त्तन को देखकर उन्हें हर्ष या विषाद नहीं होगा। विष्णु उनके पास विष्णु ही रह गए, उनको कुछ भी खोना नहीं पड़ा।

भक्तिसाधन-काल में मनुष्य साधारणतः अपने संस्कारगत भाव को लेकर आगे बढ़ता है। कारण, वह उनमे ही आपात-सुख पाता है। यद्यपि इस प्रकार संस्कारभावात्मक साधना कभी भी साधक को विशुद्ध ब्राह्मीभाव में प्रतिष्ठित नहीं कर सकती है।

भक्ति योगो बहुविधैर्मार्गैर्भाविनि भाव्यते।
स्वभावगुणमार्गेन पुंसा भावो विभिद्यते॥
Bhaktiyogo bahuvidhaer
márgaerbhávini bhávyate.
Svabhávagunamárgena
puṁsáṁ bhávo vibhidyate.

अर्थात् भक्तियोग की विधि और प्रकार अनेक हैं। मनुष्य अपने स्वभावानुसार विभिन्न मार्गों से भक्तिसाधन करते हैं।

तामसिक-साधना— संस्कार अपने संस्कारगत भाव से तमोगुणी है। परन्तु कृत-कर्म के गुणों के अनुसार कभी रजःप्रधान, कभी सत्त्व-प्रधान होता है। जब साधक रजोगुण वा सत्त्वगुण के प्रकाश की ओर न जाकर अपनी तमोगुणी सत्ता को तामसिकता में डूबा कर भक्ति साधना करता है,

तब उसे तामसिक साधक कहा जाता है।

अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भीभिन्नदृक्भावो मयि कुर्यात् स तामसः॥

Abhisandhaya yo himsám dambhaṁ
mátsaryameva va.
Saṁrambhi bhinnadrkbhávo mayi
kuryát sa támasah.

जो व्यक्ति हिंसा, दम्भ या मत्सर के वशीभूत होकर परम-रस के बदले में विषय-रस की साधना करते हैं, वे तामसिक साधक हैं। किन्तु इन तामसिक-साधकों में भी कोई कोई ऐसे निकल जाते हैं जो अपनी स्थूल अभीष्ट-सिद्धि के बाद भी अपने इष्ट को भूलते नहीं हैं। इससे मानना होगा कि इनमें राजसिक और सात्त्विक वृत्ति प्रच्छन्न भाव में थी। यदि वास्तव में कहा जाय तो वे तामसिक साधक नहीं थे।

राजसिक-साधना— बहिर्जगत् में किसी विशेष खण्ड-वस्तु की प्राप्ति के उद्देश्य से जो साधना करते हैं, वे राजसिक साधक हैं। राजसिक-साधक की विशिष्टता यह है कि उनकी दृष्टि अपने स्वार्थ की पूर्ति में ही लगी रहती है, दूसरों को क्षति पहुँचाने में नहीं।

विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा
अर्चादिवर्चयेद् यो मां पृथग्भावः सः राजसः (भागवत)

Visayánabhisandhaya yasha aeshvaryameva vá
Aracádivarcayed yo máṁ prthagbhávah
sahrájasah. (*Bhágvat*)

अर्थात् विषय, यश तथा ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए जो पुष्प बिल्व-पत्रादि के द्वारा ईश्वर की स्थूल पूजा करते है, वे प्रकृत-रूप में विषय की ही चाहना करते हैं, ईश्वर को नहीं चाहते हैं। ये राजसिक-साधक हैं। इन राजसिक-साधकों में भी कोई-कोई परम-ब्रह्म को नहीं भूलते हैं। उन्हें समझना होगा कि राजसिक-साधक होने पर भी उनमें यथेष्ट परिमाण में सात्त्विक भाव का अभाव नहीं था।

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद् यष्टव्यमिति वा पृथग् भावः सः सात्त्विक ॥

Karmanirhármuddishya parasmin
vá tadarpaṅam
Yajed yashṭavyamiti vá prthagbhávah
sah sáttvikah.

"हमारे कर्म का क्षय हो। हे भगवन! हमें कर्म-चक्र से मुक्ति दो"—ऐसा उद्देश्य रखकर जो ईश्वर की साधना करते हैं अथवा ईश्वर की आराधना इसलिये करते हैं कि यह हमारा कर्त्तव्य है अथवा हम वृद्ध हो चले हैं, पूजा-पाठ नहीं करने से लोग क्या कहेंगे?—ऐसा मनोभाव लेकर जो साधना करते हैं वे सात्त्विक-साधक हैं। कारण, इस क्षेत्र में भी परमात्मा की प्राप्ति का उनका उद्देश्य नहीं है। इस सात्त्विक साधना को भी श्रेष्ठ-साधना या उन्नत-साधना नहीं कह सकते हैं। क्योंकि इनमें से कोई भी, साधक की सर्व-वृत्ति को नियंत्रित कर आराध्य सारात्सार परमब्रह्म की ओर नहीं ले जाती है। साधकों का

लक्ष्य किसी दूसरी दिशा की ओर जाता है। वह किसी अन्य क्षुद्र-उद्देश्य को लेकर कार्य करता जाता है। इन सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीनों प्रकार की भक्ति को गौणी-भक्ति कहेंगे। जहाँ परम-ब्रह्म के सिवा और कोई लक्ष्य नहीं है उसी को मुख्या भक्ति कहेंगे। वहाँ साधक गुणातीत है। वह निर्गुणा-भक्ति की साधना में लीन रहता है। मोटे तौर पर लक्षणानुसार भक्ति को कई भागों में विभाजित कर सकते हैं। जैसेः—

निर्गुणा भक्ति—यहाँ साधक का कोई अन्य उद्देश्य नहीं रहता है, केवल अपने प्राणों की प्रेरणा से वह अपने को परम-ब्रह्म की ओर ले जाता है। यदि कोई उससे पूछे कि तुम क्यों उनकी भक्ति करते हो ? क्यों उनको प्यार करते हो ? इन प्रश्नों के उत्तर में जिसके मुख से ये उत्तर निकलते हैं—क्यों हम प्यार करते हैं, यह तो हम जानते नहीं, उन्हें प्यार करना अच्छा लगता है, इसीलिए प्यार करते हैं। क्या उन्हें प्यार नहीं करेंगे ? वे तो हमारे प्राणों के प्राण हैं, आत्मा की आत्मा हैं। साधक की इस तरह की भक्ति को निर्गुणा भक्ति कहते हैं।

वैधी भक्ति—किन्तु जहाँ पर ईश्वर के प्रति यह एकान्तिक भक्ति नहीं है, केवल दूसरों को दिखाने का उद्देश्य है। आज यह व्रत है, इस तरह से गोबर से जमीन लीपनी होगी, गङ्गा-जल छींटना होगा, इस प्रकार विप्रों

को राजवेश या बालकवेश में सजाने होंगे। इस तरह मे मन्त्र, फूल, विल्व-पत्रादि दिए जाएंगे, इस प्रकार बाह्यिक-विधि-निषेध के घेरे के भीतर जो भक्ति-साधना की जाती है, उसी को वैधी-भक्ति कहते हैं।

यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते ।
शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते ॥
Yatra rágánavaptatvát
pravrttirupajáyate .
Shásanenaiva shástrasya
sá vaedhii-bhaktirucyate .
रागहीन जन भजे शास्त्रेर आज्ञाय ।
विधिभक्ति बोलि तारे सर्व शास्त्रे गाय ॥

तामसिकी, राजसिकी और सात्त्विकी, ये त्रिविधा-भक्ति वैधी-भक्ति हैं।—

ज्ञानमिश्रा भक्ति—सात्त्विकी साधक यदि अभीष्ट-सिद्धि के बाद भी परम-ब्रह्म को नहीं भूलता है, तब धीरे-धीरे उसके मन में पराज्ञान का उद्भव होता है। यह ऐश्वर्य-ज्ञानमिश्राभक्ति नाम से कही जाती है। यह भक्ति भी निर्गुणा-भक्ति है, किन्तु प्रच्छन्न भाव से ऐश्वर्य या ज्ञान का अहंकार रहने के कारण परमपद लाभ नहीं होता है। इसे प्रधानीभूता भक्ति कहते हैं। प्रधानीभूता गौणी-भक्ति की पूर्णावस्था है।

केवला भक्ति—जो साधक किसी सगुणा-भक्ति की साधना न कर प्रथम ही निर्गुणा भक्ति के अमृतत्व का आस्वाद ग्रहण करता है, उसके मन में "क्या पाया हूँ", "क्यों पाने की इच्छा है', इत्यादि प्रश्नों के उठने का अवकाश नहीं रहता है। यही भक्ति की चरमावस्था है। यही भक्ति की परमा-परिणति है। ध्येय के संग अभेद ज्ञान रहने से से केवल एक ही सत्ता रह जाती है, इसीलिए उसको केवला-भक्ति कहते हैं। केवला-भक्ति मज्जन-घर्षण अथवा चेष्टा के द्वारा नहीं होती है। जिसने महत् की कृपा वा भगवत् कृपा लेशमात्र भी नहीं पाई है, उसके चिदाकाश में इसका स्फुरण असम्भव है।

महत् कृपयैव भगवद् कृपालेशाद्वा

Mahat krpayaeva bhagavad krpáleshádvá

केवला भक्ति का स्थान सर्व प्रकार गौणी भक्ति के ऊर्ध्व है। इसीलिए इसको मुख्याभक्ति कहते हैं। गौणी-भक्ति की साधना में साधक कितना ही आगे क्यों न बढ़ जाए, फिर भी उसमें एक सेव्य-सेवक का भाव अथवा एक बृहत्-क्षुद्र का भाव अन्त तक रह ही जाता है। इसी भाव को शास्त्र में महिम-ज्ञान कहते हैं। महिमज्ञान रहने पर साधक ब्रह्मत्व में लीन होने में संकोच अनुभव करता है।

रागात्मिका भक्ति—केवला-भक्ति में महिमज्ञान नहीं है।

इसमें साधक ध्येय को, अपने प्राणों के प्राण, आत्मा की आत्मा समझ कर, प्राणों के आवेग मे उसके सान्निध्य की ओर दौड़ता है। सेव्य-सेवक वा बृहत्-क्षुद्र का बोध लाने का और पहचानने का उपयुक्त अवकाश उसे नहीं रहता है। वहाँ पर साधक अपने को रामदास नहीं समझेगा, अपने को रामस्वरूप समझेगा। उनको प्यार करने में अच्छा लगता है, बिना प्यार किए हुए रह नहीं सकते हैं, इसीलिए प्यार करते हैं—इसी तरह का एकमात्र भाव उनके पास रहता है।

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्
तन्मयी या भवेत् भक्ति सात्र रागात्मिकोदिता

Iṣṭe svārasikī rāgaḥ paramāviṣṭatā bhavet
Tanmayī yā bhavet bhakti sātra rāgātmikoditā.

रागात्मिका भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था को रागानुगाभक्ति कहते हैं।

रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते

Rāgātmikāmanusṛtā yā sā rāgānugocyate.

रागानुगा भक्ति साधक के मन को रागात्मिका के रूप में गढ़कर उपयुक्त बना देती है। द्वैतवादी साधक जो रागात्मिका भक्ति के अधिकारी हैं वे रागात्मिका की चरम अवस्था में, ब्रह्म में मिल जाने की अपेक्षा ब्रह्म के ठीक समीप जाकर उनका स्पर्श अनुभव ही अधिक पसन्द करते हैं। उन का वक्तव्य है कि "चीनी होते चाइ ने रे मन,

चीनी खेते भालो वासी" यदि अपने ही चीनी हो गए तो चीनी का स्वाद कैसे पायेंगे। द्वैतवादी इसी अवस्था को 'गोपीभाव' अथवा 'ब्रजभाव' कहते हैं—

"सेइ गोपी मन जार भावामृते जाय।
वेद-धर्म त्यजि सेइ कृष्णके भजय।"

यह ख्याल रखना है कि यहाँ पर गोप शब्द का प्रकृत अर्थ गोपालक (ग्वाला) नहीं है। गो शब्द का अर्थ इन्द्रिय है। जो इन्द्रियों का पालक वा नियन्ता हैं, वही गोप वा गोपाल हैं। गोपाल शब्द का अर्थ आनन्द-दायक भी है। यह ब्रजभाव केवला भक्ति की ही एक समीपावस्था है। अथच ज्ञानमिश्रा भक्ति से यह पृथक् है। यहाँ कोई ज्ञान का दम्भ नहीं है और न ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति है। वैधी भक्ति के द्वारा यह भक्ति लभ्य नहीं है।

सकल जगते मोरे करे विधि भक्ति।
विधिभक्त्ये ब्रजभाव पाइते नाहि शक्ति॥

आनन्दमार्ग में वैधी वा ज्ञानमिश्रा भक्ति का स्थान नहीं है। यहाँ साधक मात्र ही रागात्मिका भाव के साधक हैं, अतएव ब्रजभाव की अवस्था में ही वे अपना यात्रापथ शेष करना नहीं चाहते हैं। द्वैतवादी ब्रजभाव में और जो कुछ भी क्यों न रहे, उसमें ब्रह्म की इच्छा के प्रति वा उनकी प्रतिसञ्चर-धारा के प्रति उचित सम्मान का प्रदर्शन नहीं किया जाता है। उनकी कृपा से मनुष्य को जो सुयोग

प्राप्त हुआ है, क्यों नहीं उसका पूर्ण प्रयोग वे करें ? वे क्यों नहीं अपने मैंपन को भूमा के अमृतत्व में मिला दें ? एक बात यह है कि पृथक् रहकर रसास्वादन करते रहने से व्यष्टि मन को और उसके संग-संग ज्ञानेन्द्रिय-समूह को भी बचा कर रखना होगा । इन्द्रियों के साथ मन जहाँ रहता है वहाँ अधोगति की सम्भावना तो रहती है। इसीलिए आनन्दमार्गी गोपी-भाव में रुक कर रहना स्वीकार नहीं करते हैं—

भावः—भक्ति-तत्त्व की व्याख्या के लिए भाव शब्द का व्यवहार अपरिहार्य है।

यह भाव किसे कहते हैं—

शुद्धसत्व विशेषाद्वा प्रेमसूर्यांशु साम्यभाक्
रुचिभिश्चित्तमासृण्य कृदसौभाव उच्यते (श्रीरूप गोस्वामी)

Shuddhasattva vishesa'dvá
premasúryá'mshu samyabhá'k
Ruchibhishchittamá'srńya
krd asaobhá'va ucyate.

जिसके द्वारा चित्त शुद्ध और सत्त्वगुण प्रधान होता है, प्रेम-रूपी सूर्य की ज्योति से दशो दिशाएँ उद्भासित हो उठती हैं, ईश्वर के प्रति रुचि (taste) वा अनुरक्ति उस भाव से प्रकाशित होती है और इसके फलस्वरूप चित्त मसृणता प्राप्त करता है, उसी को भाव कहते हैं। इसी भाव

के फलस्वरूप मनुष्य अपनी स्वाभाविक आकर्षणी शक्ति को इष्टाभिमुखी कर देता है, किन्तु इष्ट उसके बाहर नहीं है, इष्ट तो उसके प्राणों के प्राण, मन के मन और उसके सम्पूर्ण अस्तित्व के जीवन देवता हैं! यही इष्टोपयुक्तभाव जब उग्रभाव में उसकी अन्तर्मुखी वृत्ति को जाग्रत कर देता है तब वह इसी भाव में तन्मय हो जाता है। वह आत्मसमाहित अवस्था में स्थिति लाभ करता है। यह जो भीतर की ओर दौड़ना है, इसी को वैष्णव दर्शन में ह्लादिनी शक्ति कहते हैं। इसका कारण यह है कि इस पथ में अग्रगति के प्रति पदविक्षेप में माधुर्यमय अनुभूति का व्यापक विकाश है।

मन में जहाँ भय का अथवा कोई स्थूल-वृत्ति का भाव प्रकट है वहाँ प्रकृत अनुरक्ति वा भक्ति नहीं हो सकती है। भयजनित-भक्ति कोई भक्ति नहीं। वह मानसिक-जड़ता की ही एक शोचनीय-अवस्था है। कोई दोजख के भय से, कोई नरक के भय से और कोई हेल (Hell) के भय से, निर्दिष्ट संख्या में विधिपूर्वक परित्राण पाने के लिए ईश्वर से विनय करते हैं, इससे उनके सत्यज्ञान का अभाव ही सूचित होता है। तुमलोग इस, हीनम्मन्यता को प्रश्रय नहीं दो। ईश्वर को जो निज-स्वरूप जैसा जानते हैं वा मानते हैं, उन लोगों को ईश्वर के प्रति भय रखने का कोई कारण ही नहीं हो सकता है। इसी भय-शून्य ईश्वराभिमुखी गति को ही प्रेम कहते हैं—

सम्यङ्मसृणितो स्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कित.।
भाव स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमानिगद्यते ।।

(श्री रूपगोस्वामी)

Samyaun masrnito svánto
mamatvátishayánkitah.
Bhá va sa eva sándrátma
budhach prema nigadyate.

जिसके द्वारा चित्त मसृणता प्राप्त करता है, सब जीवों के प्रति ममत्व बोध उदित होता है, वही जो परम शान्त भाव है, ज्ञानी-जन उसको प्रेम कहकर निर्देश करते हैं। प्रेम कभी क्षुद्र के ऊपर, खण्ड के ऊपर नहीं हो सकता है।

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तारे बोलि काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति इच्छा धरे प्रेम नाम ।।
कामेर तात्पर्य निज सम्भोग केवल।
कृष्ण-सुखवाञ्छा हय प्रेमेते प्रबल ।।

प्रेम और काम दोनों परस्पर विरोधी-वृत्ति हैं। क्षुद्र पर जो आकर्षण होता है, वह बहिर्मुखी है और बृहत् के प्रति जो आकर्षण होता है वह अन्तर्मुखी-वृत्ति का ही अभिप्रकाश है। इसीलिए ये दोनों एक साथ रह ही नहीं सकते हैं। साधक को इसीलिए कौशल से काम को प्रेम में रूपान्तरित कर लेना होगा। क्या पुत्र को प्यार करते

हो ? नहीं, नहीं। पुत्र को तो प्यार नहीं करते हो। ब्रह्म के पुत्र-रूपी विकाश को प्यार करते हो। पुत्र को पुत्र समझ कर प्यार करने से ब्रह्म को तो प्यार नहीं कर सकते हो। जहाँ पुत्र है, वहाँ ब्रह्म नहीं और जहाँ ब्रह्म हैं वहाँ पुत्र नहीं है। जहाँ तुम हो, वहाँ वे नहीं हैं। जहाँ वे है, वहाँ तुम नहीं हो।

जहां काम, तहां नहीं राम, जहां राम तहां नहीं काम।
दोनों एकत्र नहीं मिले, रवि रजनी एक ठाम॥

अष्टविधा भक्ति— भक्ति आठ प्रकार की है— दो प्रकार की तामसिक-भक्ति, दो प्रकार की राजसिक-भक्ति, दो प्रकार की सात्त्विक-भक्ति, ज्ञानमिश्रा-भक्ति एवं केवला-भक्ति। पूर्व ही कह चुके है कि इन अष्टविधा-भक्ति में केवला भक्ति हा श्रेष्ठ है। भक्ति बिलकुल नहीं रहने की अपेक्षा किसी भी एक प्रकार की भक्ति का मूल्य अत्यधिक है। कारण, उससे उनकी चित्त वृत्ति एक विशेष-धारा प्रवाह में नियन्त्रित रहती है।

अष्टा विधा ह्येषा भक्तिर्यस्मिन् म्लेच्छेऽपि वर्त्तते
स विप्रेन्द्रो मुनिः श्रीमान् स यति स च पण्डित:। (गरुड़-पुराण)

Asta vidhá hyeśa bhaktiryasmin
mlecche'pi vartate
Sa viprendro munih shriimán
sa yatih sa ca pán'ditah

इन अष्टविधा-भक्तियों में से यदि कोई एक भी व्यक्ति कुसंस्काराच्छन्न म्लेच्छ भी हो तो वह ब्राह्मण-श्रेष्ठ, मुनि, सर्वश्रीयुक्त सन्न्यासी या पण्डित में गण्य होने योग्य है। महाप्रभु कहते हैं—

चण्डालोऽपि द्विजश्रेष्ठः हरिभक्ति-परायणः
हरिभक्ति-विहीनश्च विप्रोऽपि श्वपचाधम ।
Caṇḍ'ālo'pi dvijashreṣ'thah
haribhaktiparā yanah
Hari bhaktivihinashsa
vipro' pi shvapacā dhamah
शुचि होये शुचि हय यदि हरि भजे ।
शुचि होये मुचि हय यदि हरि त्यजे ॥

इस भक्ति साधना के लिए अधिकार भेद नहीं है। जिसने मनुष्य शरीर पाया है, वही इस साधना का अधिकारी है।

आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते
Ānindya yonyadhikriyate

लौकिक विचार से कोई जाति अधिकार भुक्त ही क्यों न हो, उसको भी यह अधिकार है। महर्षि नारद कहते हैं—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलक्रियादि भेदः ।
Nasti teṣu jāti vidyā
rūpa kula kriyādi bhedah

भक्ति के फल की चरम प्राप्ति परमोपलब्धि है, किन्तु वैधी-भक्ति साधक के चित्त में परम-रस की अपेक्षा विषय-रस की आकांक्षा ही अधिक रहती है। बच्चे के रोने पर माँ जैसे साधारण खिलौने देकर उसको भुला रखती है, वैधी-भक्ति के साधक उसी तरह खिलौना पाकर भूले हुए बच्चे के समान हैं। जो बच्चा खिलौना फेंक देता है, माँ बाध्य होकर शतकार्य छोड़कर उस बच्चे को गोद में ले लेती है। केवला भक्ति के साधक उसी तरह के चतुर बच्चे हैं। मात्राभेद के अनुसार साधकों की तीन श्रेणियाँ हैं।

उत्तमाधिकारी—

(१) शास्त्रे युक्तौ च निपुणः सर्वथा दृढ निश्चयः।
प्रौढो श्रद्धोऽधिकारी यः स भक्त उत्तमोमतः॥

Shástreyuktao ca nipuńah
sarvathá drd'ha nishcayah
Praod'ho shraddho'dhikárii
yah sa bhakta uttamomatah

जो शास्त्रज्ञ हैं, साधना कार्य में अभिज्ञ हैं और सर्वदा दृढ़चित्त हैं, उन्हीं को उत्तम-भक्त कहा जाता है—

(२) मध्यमाधिकारी—

यो शास्त्रादिष्वनिपुणः श्रद्धावान् स तु मध्यमः।

Yo shástra diśvanipuńah
shraddhává'n sa tu madhyamah

जिन में श्रद्धा है किन्तु शास्त्रादि का ज्ञान नहीं है, वे मध्यमाधिकारी हैं।

(३) अधम अधिकारी—

यो भवेत् कोमलश्रद्धः सः कनिष्ठो निगद्यते।

Yo bhavet komalashraddhah
sah kanishtho nigadyate

जिनको न ज्ञान है और न निष्ठा ही, वे अधम साधक हैं। रागमिश्रा-भक्ति वा केवला-भक्ति केवल उत्तम साधकों के द्वारा ही लभ्य है। वे ही अपनी आत्मिक-सत्ता के व्यापक-विकाश की उपलब्धि करते हैं। इसीलिए शास्त्र में निर्गुणा भक्ति को पुष्टि-मार्ग कहा जाता है। शेष मार्ग को मर्यादा मार्ग कहते हैं।

केवला भक्ति के साधक जितना अधिक अपने इष्ट की ओर बढ़ते जाते हैं उतना ही अपने क्षुद्र व्यक्तित्व की सत्ता को भूलकर इष्ट के सारूप्य को प्राप्त करते हैं।

माधव माधव अनुखन सुँवरि सुन्दरी माधव भेलि।

श्रीमती (राधा) सर्वदा ही माधव का ध्यान कर अपनी सत्ता को भूल अपने को ही माधव कहती हैं।

केवला भक्ति के साधक केवल ब्रह्म को ही देखते हैं। जगत् उनके लिए शून्यवत् है। ब्रह्म-साधना को छोड़कर उनके लिए सकल कर्म शून्यवत् हैं।

राम नाम एक अङ्क है, सब साधन है सून,
अङ्क बिनु कछु हाथ नहि, अङ्क रहे दस गुन।

अतएव हे साधक, अङ्क को मत छोड़ो। नहीं तो तुम्हारी सारी प्रचेष्टाएँ शून्य में पर्यवसित हो जायँगी। सभी अवस्थाओं में, सभी कर्मों के बीच उस अङ्क को पकड़े रहो। तुम्हारे शैशव का धर्म विद्योपार्जन और ब्रह्मसाधना यौवन का धर्म अर्थोपार्जन और ब्रह्मसाधना। प्रौढ़त्व का धर्म जागतिक प्रतिष्ठा और ब्रह्मसाधना और वार्धक्य का, जब तुम सभी प्रकार के स्थूल कार्य के लिए अयोग्य हो जाते हो तब केवल ब्रह्म साधना ही है। प्रह्लाद कहते हैं—

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्।
Kaomara ácarel prájño
dharmán bhágavatá niha
Durlabham manuśám janma
tadapyadhruvamarthadam.

बुद्धिमान् व्यक्ति शैशवकाल से ही धर्म-साधना करते है। कारण, मनुष्य जीवन दुर्लभ है और उसमें साधना-सार्थक मनुष्य-जीवन और भी दुर्लभ है।

प्रकृत भक्तों के लिए ब्रह्म प्रिय हैं। इसलिए ब्रह्मवाचक सभी वस्तुएँ, सभी सत्ताएँ उनके लिए प्रिय हैं।

जेइ नाम सेइ कृष्णा भजो निष्ठा कोरि।
नामेर सहित आछेन आपनि श्री हरि॥

प्रकृत भक्त जगत् को प्यार करते है, समाज को भी प्यार करते हैं, संसार को भी प्यार करते हैं। कारण, वे इस लीलामयी प्रकृति के प्रत्येक विचित्र विकाश को एक ही अखण्ड रस में ओतप्रोत भाव मे देखते हैं। वे खण्ड को भी बृहत् का अंश समझकर प्यार करते हैं। वे विषय रस को भी परम रस की दैशिक, कालिक व पात्रिक अभिव्यक्ति मान कर प्यार करते हैं। वे परम रस की अमृत-धारा में अपने चित्त को आप्लुत कर रखते हैं। इस तरह के भक्त साधक ही प्रकृत रसिक हैं और रससत्ता हैं वे परमब्रह्म। वेद कहता है—

रसः व सः *Rasah vae sah.*

परम रस के वेत्ता ही रसिक हैं। इस विश्वातीग ब्रह्म-रस को क्षुद्र स्वार्थ की दृष्टि से देखने पर यह विष में परिणत हो जाता है और विराट् दृष्टि से देखने पर अमृत रूप में उपलब्ध होता है। जो उस भूमा अमृत का

पान करते है, वे ही प्रकृत रसवेत्ता हैं। प्रकृत रसिक है। कवि चण्डिदास कहते हैं—

रसिक रसिक कहये सकले, रसिक केहइ नय,
भाविया गणिया बुझिया देखिले, कोटिते गोटिक हय।
जेमति दीपिका उजरे अधिका, भितरे अनल शिखा,
पतङ्ग आसिया पडये घुरिया पुडिया मरये पाखा।
जगत् जुडिया तेमति घुरिया, कामानले पुडि मरे,
रसज्ञ जे जन, से करये पान, विष छाडि अमृतेरे।

मक्ति के साधक अपना सर्वस्व अपने इष्ट को दे देंगे। वैषयिक सब कुछ मन में ही केन्द्रीभूत होकर रहता है। अतएव इस मन को ब्रह्मसत्ता में उत्सर्ग कर दिए जाने पर सब कुछ दिया हुआ हो जाता है।

रत्नाकरस्तव गृहं गृहिणी च पद्मा,
देयं किमपि भवते पुरुषोत्तमाय
आभीरवामनयनापहृत मानसाय
दत्त मनः यदुपते त्वमिदं गृहाण।

Ratnákarastava grhaṁ grhiṅii ca padmá
Deyaṁ kimapi bhavate puruṡottamáya
Á bhiiravá manayaná pahrta ma'nasáya
Dattaṁ manah yadupate tvamidaṁ gṙhá'ṅa

रत्नाकर तुम्हारा गृह है, स्वयं परमा प्रकृति तुम्हारी गृहिणी है। हे प्रभु! तुम्हें तो किसी वस्तु का अभाव नहीं है। तब हे पुरुषोत्तम! तुम्हें मैं क्या दूँ? हाँ, हाँ, एक बात याद आ गई। जो तुम्हारे प्रकृत भक्त हैं, उन्होंने तुम्हारे मन को छीन लिया है। इसीलिए तुम में एक वस्तु का अभाव हो गया है। तुम्हारा मन खो गया है। हे प्रभु! मैंने अपना मन तुम्हें दे दिया। तुम इसे ग्रहण करो।

(आषाढ़ी पूर्णिमा, १९५५)
भागलपुर।

साधना का रूप

जागतिक क्लेश-समूहों की अत्यन्तिकी निवृत्ति जिसके द्वारा होती है, उसी का नाम परमार्थ है और उस परमार्थ प्राप्ति की प्रचेष्टा का नाम साधना है। आत्मा जहाँ विषय-मुक्त है अर्थात् सर्व प्रकार के क्लेशों से मुक्त है वहीं उसे परमात्मा कहा जाता है। इसीलिए साधक में जब तक द्वैत-भाव रहता है तब तक उसकी भाषा में कहा जायगा कि साधना वही क्रिया है जिसके द्वारा आत्मा और परमात्मा एकीभूत होता है।

आत्मा और परमात्मा क्या ये दो स्वतंत्र सत्ताएँ हैं? नहीं, ऐसी बात नहीं। जीवात्मा जब तक संस्कारबद्ध है तब तक वह जीवन-मरण के अधीन होकर संसार-चक्र में घूमती रहती है। वह निज-स्वरूप स्थिति के सुमानन्द को नहीं पाती है। किन्तु जब वह अपने आलयीभूत व्यष्टि मानस की प्रचेष्टा से साधना द्वारा व्यष्टि संस्कार को क्षय कर लेती है, तभी वह परमात्मा है। इस संस्कारगत भेद के अतिरिक्त इन दोनों में अब किसी प्रकार की पृथकता नहीं रही।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ (श्रुति)

Dvá suparná sayujá sakháyá
samánam brkśam páriśasvajáte
Tayoranyah pippalam
svádvattyanashnannanyo'bhicákashiiti.

एक ही वृक्ष पर एक ही स्वभाव-युक्त दो सुन्दर पक्षी एक साथ रहते हैं। उनमें से एक उस वृक्ष का सुस्वादु फल खाता है और दूसरा केवल देखता है। यह वैदिक रूपक कितना सुन्दर है! यहाँ फल भक्षण करने वाले पक्षी का अर्थ जीवात्मा है और वह पक्षी जो केवल साक्षी-मात्र है, परमात्मा है। इसका मूल तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकार से फल भोग करने वाली व्यष्टि आत्मा है और जगत् की सारी क्रियाओं एवं प्रक्रियाओं का साक्षीभाव परमात्मा है। जीवात्मा प्रकृति के अधीन है, मायाधीन है। परमात्मा आपात-विचार से जिस रूपभाव से प्रतीयमान क्यों न हों, किन्तु स्वरूपतः वे मायाधीश हैं।

परमात्मा ही एकमात्र सद्वस्तु हैं। सत् और सत्य ये दो अभिन्न शब्द हैं। सत्य उसको कहेंगे जो अपरिणामी होता है। देश, काल और पात्र के प्रभाव से सभी खण्ड-वस्तुएँ परिवर्तित होती हैं अर्थात् परिणाम प्राप्त करती हैं। किन्तु सत्य की सत्ता दैशिक, कालिक या पात्रिक भेद के

कारण परिवर्त्तित नहीं होती है । विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार के देशाचार एवं लोकाचार हैं । देशभेद में परिवर्त्तन के कारण इनमें से किसी को भी ठीक सत्य नहीं कह सकते हैं । जो वस्तु आज एक तथ्य के रूप में मन में भासित होती है और ऐसा बोध होता है कि यह एक सत्य घटना है, कल अवस्था के भेद से यह ज्ञात होता है कि वह बात ठीक नहीं थी, प्रकृत तथ्य से दूर थी। इस तरह देखा जाता है कि अतीत में जो तथ्य रूप में मन में था, वर्त्तमान में वही अतथ्य है अथवा अतीत में जो अतथ्य रूप में था, वर्त्तमान में वही तथ्य बन गया है । इसीलिए कहा जा सकता है कि यह सभी लौकिक तथ्य वा अतथ्य कोई भी स्थिर सत्य नहीं है । एक ही फल है, एक विशेष देश में वह मीठे फल के रूप में परिचित है, मिट्टी भेद के कारण दूसरे देश में वही खट्टे फल में परिवर्त्तित हो जाता है । एक विशेष वस्तु जो जन-साधारण के निकट श्वेतवर्णात्मक है, उसी को एक पाण्डु-रोगी (Jaundice-patient) पीत-वर्णात्मक देखेगा। अतः चलायमान् विश्व की कालाधीन-सत्ता, देश, काल और पात्र पर आपेक्षित होने के कारण, कोई वस्तु स्थिर सत्य नहीं हो सकती । चिरन्तन सत्य केवल ब्रह्म ही हैं जिनका अस्तित्व प्रकृति के ऊर्ध्व है अर्थात् मन के ऊर्ध्व है, उनका आसन अवश्य ही देश, काल और पात्र के भी ऊर्ध्व है।

इस परिदृश्यमान् जगत् में हमलोग जो सभी वस्तुओं को आपातदृष्टि मे सत्य समझते हैं, वे प्रकृतपक्ष में आपेक्षिक सत्य हैं। उन सबों में स्वजातीय, विजातीय और स्वगत भेद रहते हैं। इसी भेद को देख कर ही आपेक्षिक वस्तु-समूह को पहचाना जाता है। मानो, एक वृक्ष है। वृक्ष के साथ घर-बार, पहाड़, नदी इत्यादि के विजातीय भेद हैं। पुनः वृक्षों में भी आम, कटहल, ताड़ इत्यादि वृक्षों के स्वजातीय भेद हैं अथवा आम में भी लँगड़े, बम्बई इत्यादि के भेद हैं और आम्र वृक्ष में भी शाखा-प्रशाखा-पत्र इत्यादि के स्वगत भेद हैं। परमात्मा अखण्ड-सत्ता हैं, इसीलिए वे इन त्रिविध भेदों के ऊर्ध्व हैं।

यह परिदृश्यमान्-जगत् ब्रह्म का मानसिक विकाश है। वे एक अद्वितीय एवं सर्वव्यापक-सत्ता हैं। श्रुति में कहा गया है—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्'

Sarvam khalvidam Brahma tajjalan

अर्थात् सब कुछ ही ब्रह्म है। जगत् के सब कुछ उनके ही द्वारा सृष्ट हैं, उन्हीं में स्थित हैं और उन्हीं में लय होते हैं। तन्त्र भी यही कहता है—

यतो विश्वं समुद्भूतं येन जातञ्च तिष्ठति।
यस्मिन् सर्वाणि लीयन्ते ज्ञेयं तद् ब्रह्म-लक्षणैः॥

Yato vishvam Samudbhūtam

yena jātāni ca tiṣṭhati

Yasmin Sarvāṇi liiyante

jñeyam tad Brahmalakṣaṇach

ब्रह्म शब्द का अर्थ है जो बृहत् है केवल बृहत् कहने से ही यथेष्ट नहीं हुआ, जो अन्य को भी बृहत् बनाने की सामर्थ्य रखते हैं वे ब्रह्म हैं। उन्हीं की कृपा से जीव उनकी चिन्ता करके उनको प्राप्त करता है अर्थात् बृहत्त्व अर्जन करता है।

बृहत्त्वाद् ब्रह्म बृंहणत्वाद् ब्रह्म

Bṛhattvād Brahma Bṛmhaṇatvād Brahma

यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमा

Yatra nānyat pashyati nānyacchṛṇoti

nānyadvijānāti sa Bhūmā

मनुष्य की जब ऐसी अवस्था होती है कि न वह कुछ देख पाता है, न कुछ सुन पाता है और न कुछ अनुभव ही कर सकता है, तब वह ब्रह्म-पद की प्राप्ति करता है। किन्तु मनुष्यों की साधारणतः ऐसी अवस्था नहीं होती है। जागतिक आकर्षण उनके इन्द्रिय-समूह को विषयबद्ध कर रखते हैं। अतः विषयमुक्त होने के लिए उनको विशेष कर्म करना होता है। जहाँ विषय है वहाँ ब्रह्म भाव नहीं है। मनुष्य मात्र को विषयमुक्त होने के लिए कर्म करना पड़ता है और इसी कर्म को साधना कहते हैं।

इस जगत् में जितने प्राणी हैं उनमें मनुष्य ही सब से चैतन्यदीप्त प्राणी है, किन्तु वह जागतिक मायाजाल में विशेष भाव से आबद्ध है। अपने बुद्धिबल के द्वारा वह सुख-प्राप्ति के हेतु नवीन वस्तुओं का आविष्कार करता है। किन्तु प्रत्येक सृष्ट-वस्तु तो बुद्धि का विषय है और जब इन बुद्धिगत वस्तुओं से उसको सुख-प्राप्ति में विघ्न होता है तभी वह प्रकृत ज्ञान का अन्वेषण करता है। प्रकृत ज्ञान अपरिणामी है। यही सन्धान करते करते प्रत्येक वस्तु के मूल में ब्रह्म को ही पाता है और उन्हीं की प्राप्ति के लिए वह तत्पर हो जाता है। इसी को दूसरे शब्दों में साधना कहा जाता है। कठोपनिषद् में है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

Návirato dushcaritánnáshánto náshamáhitah
Náshántamánaso vápi
prajiṇáenaenamápnuyát

अर्थात् जब तक मनुष्य अपने निर्दिष्ट कर्म से पृथक् होकर अपने मन को शान्त नहीं करता है तब तक वह कितना ही लिखा-पढ़ी क्यों न करे, अन्तःशुद्धि किए बिना वह परम-ब्रह्म को नहीं पा सकता है।

मैं जो कुछ भी कहता हूँ उसके पीछे कोई-न-कोई कारण है। कारण (विचार) चित्त में उत्पन्न होता है और

मन उसको इन्द्रियों की सहायता से कार्य का रूप देता है अर्थात् इन्द्रिय-समूह मन के इशारे पर ही काम करते हैं। मन जब कोई काम नहीं करना चाहता, इन्द्रिय भी उस समय काम नहीं करती हैं। शास्त्र में है—

मन एव मनुष्याणा कारणं बन्धमोक्षयोः

Mana eva manuśyánám

káraṇam bandha mokśayoh

अतएव मन ही हमलोगों के प्रत्येक काम के पीछे है, चाहे हम मन को जागतिक कार्य में लगाएँ अथवा ब्रह्म-चिन्तन में। मन के बिना कोई भी कार्य होना सम्भव नहीं। मन की शक्ति असीम है और इसी असीम शक्ति को नियंत्रित करना ही साधना है।

मन यद्यपि महाशक्तिशाली है, फिर भी उसमें एक बड़ा दोष है। वह यही है कि वह एक साथ दो वस्तुओं की चिन्ता नहीं कर सकता है। वह जब चिन्ता करता है तब उसका विषय एक ही रहता है। लेकिन उसका काम इतनी शीघ्रता से होता है कि हम समझ ही नहीं सकते हैं। कोई काम करते करते हम दूसरे की बात भी सुन सकते हैं। वस्तुतः यह मन की द्रुतगामी शक्ति के द्वारा ही होता है। मन की इसी शक्ति के कारण हमलोग यह समझते हैं कि मन की यह चिन्ताधारा अविच्छिन्न रहती है। जैसे सिनेमा में हमलोग चित्र भी देखते हैं और संवाद-श्रवण

का भी आनन्द लेते हैं। किन्तु पूर्ण मनोयोग की सहायता से विचार करने से मन का कार्य समझा जा सकता है। कहने का उद्देश्य यह है कि मन के द्वारा एक समय एक ही काम हो सकता है। इसी कारण जागतिक कार्य एवं ब्रह्म-चिन्तन एक साथ नहीं हो सकते। मनुष्य एक तरफ काम-क्रोध-लोभ-मोह में आबद्ध रहेगा और दूसरी तरफ ब्रह्मचिन्ता करेगा, यह असम्भव है। ब्रह्मचिन्ता के लिए मन को शुद्ध करना ही होगा। मनः शुद्धि के द्वारा जागतिक उदासीनता हमलोगों का लक्ष्य नहीं है। जगत् में रहकर हमलोग जगत् के सम्बन्ध में उदासीन नहीं रह सकते हैं। हमारा उद्देश्य ऐसा ही होगा कि हम काम अवश्य करेंगे, परन्तु हमारे काम ऐसे होंगे कि वे हमें विषयासक्त नहीं करेंगे। अनेक व्यक्ति प्रश्न करते हैं कि जब सु और कु दोनों प्रकार के ही कार्य बन्धन के कारण होते हैं तब काम नहीं करना ही क्या अच्छा नहीं है। नहीं, बात ऐसी नहीं है। जब तक शरीर है तब तक हम कर्म-मुक्त नहीं हो सकते हैं। हम को काम करना ही होगा, इच्छा रहे वा नहीं, अन्ततः हमको श्वास-प्रश्वास की क्रिया तो करनी ही होगी।

यम-नियम को मान कर कार्य करने से विषय में आसक्ति नहीं होती है। कारण यह है कि यम-नियम का प्रत्येक अंग ही जागतिक कर्म के द्वारा ब्रह्म साधना है?

अतएव इसी यम-नियमात्मक साधना को जब तुम भली-भाँति कर सकोगे तब निश्चय ही इस साधना के लक्ष्य ब्रह्म में तुम्हारा मन लीन हो जायगा। जैसे कोई रुपया कमाने में अत्यधिक रत है उसके लिए रुपया को छोड़कर दुनिया में और कुछ नहीं रहता है। उसी तरह ब्रह्माभिमुखी यम नियम साधना में जो साधक रत हैं, उनके लिए ब्रह्म को छोड़कर और कुछ नहीं है। रुपया कमाने वालों का जीवन मरुभूमि के समान हो जाता है क्योंकि रुपया को छोड़कर और सब उसके लिए पर है। किन्तु ब्रह्मसाधक किसी को भी पर नहीं कह सकते कारण सब को लेकर ही तो उनका ब्रह्म है।

अनेकों के मतानुसार साधना स्वाभाविक स्थिति में करना सम्भव नहीं है, साधना के लिए गृह, परिवार का सम्बन्ध तोड़ना आवश्यक है, किन्तु यह धारणा भूल है। जो लोग अपने परिवार के चार-पाँच लोगों का भरण पोषण भी नहीं कर सकते हैं, वे ब्रह्मचिन्ता क्या कर सकेंगे? जन्म से ही मनुष्य परिवार के साथ सम्पर्कित है। प्रत्येक परिवार की ही कोई-न-कोई समस्या है। यदि इन समस्याओं का समाधान न कर कोई गृह छोड़कर एकान्तवास करे, तब क्या उसका मन भी इन समस्याओं की चिन्ता को छोड़ देगा? उस समय भी तो उसे अपने लिए अन्न, वस्त्र की चिन्ता करनी होगी। साधना इस शरीर के द्वारा ही सम्भव है, यह बात ठीक है किन्तु उसके लिए घर-द्वार छोड़कर

अस्वाभाविक परिस्थिति उत्पन्न करना निष्प्रयोजन है। हम जिस अवस्था में हैं, उस में रहकर ही अपने को संयमी बनाकर साधना कर सकते हैं। केवल मात्र साधना करने की प्रबल इच्छा के रहने का ही प्रयोजन है।

स्वाभाविक अवस्था में रहकर ही हम अपने को इतना ऊपर उठाएँ कि हम अतिमानव हो जाएँ। अतिमानव शक्ति का विकाश कर हम अपने बीच अनन्त मानव-सत्ता को जगा सकते हैं। यह अनन्त मानव सत्ता ही तो ब्रह्म है। इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए क्षुद्रत्व का त्याग करना ही होगा, कारण, यह है भूमात्व की साधना। इसमें भेद बुद्धि बड़ी बाधा है। यह मुसलमान, यह हिन्दू, यह ब्राह्मण, यह वैश्य यह भावना तो क्षुद्र-बुद्धि का द्योतक है। सब प्राणी ही जब ब्रह्म के विकाश हैं, तब यह भेदभावना दूर नहीं करने से अपने को किस तरह पहचानोगे? कोई छोटा कोई बड़ा नहीं है। तब हाँ, गुण और दोष के कारण कोई सुखी, कोई दुखी, धनी वा दरिद्र, मूर्ख अथवा विद्वान् होता है। किन्तु मनुष्य तो समी हैं। भेद बुद्धि साधना मार्ग की प्रधान बाधक है। इसी कारण उसे विनष्ट नहीं करने से उन्नत अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। महाभारत में एक उक्ति है—

भगवान् कृष्ण को युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों ने ही अपने-अपने गृह में भोजन करने के लिए निमंत्रण दिया

था। श्रीकृष्ण उन लोगों के यहाँ जा ही रहे थे कि रास्ते में वे विदुर के घर चले गए। उस समय महापुरुष विदुर घर में नहीं थे। विदुर जी अत्यन्त गरीब थे। कृष्ण के हठात् आ जाने से विदुर की पत्नी घबरा गई। भगवान् कृष्ण का यथायोग्य आप्यायन किस भाँति किया जाय। घर में केले के सिवा अन्य कुछ नहीं था। अतएव पाद्य अर्घ्य देकर उन्होंने भगवान को आसन पर बिठाया और केले छील-छील कर उनको खिलाने लगी। बीच-बीच वह उनसे कुशल क्षेम भी पूछती जाती थी। इसी बीच महापुरुष विदुर घर लौटे। उन्होंने देखा कि भगवान् कृष्ण बैठे हुए हैं और उनकी स्त्री भाव-विभोर होकर केले के बदले भगवान् को छिलका ही खिला रही है। भगवान् भी इस तरह आनन्द-पूर्वक खा रहे थे कि मालूम पड़ता था कि उन्होंने इसके पूर्व ऐसी सुस्वादु वस्तु कभी खाई ही न हो। अपनी पत्नी की यह मूर्खता देखकर विदुर जी अत्यन्त दुखित हुए। उन्होंने अपनी पत्नी को सम्बोधित करते हुए कहा—तुम यह क्या कर रही हो? केले के बदले भगवान् को छिलका खिला रही हो? विदुर की पत्नी अकचका उठी और अपने दोषों के लिए क्षमा मांगने लगी। विदुर भी अनुनय कर कहने लगे—"हे प्रभो! छिलका तो आपने बहुत खाया, एकाध केला भी खाकर इस दीन को कृतार्थ कीजिए।" किन्तु भगवान् ने कहा "विदुर, हमारा पेट तो भर गया। इस छिलके में

ऐसा स्वाद था कि इससे उत्तम अन्य भोज्यवस्तु दुर्लभ है। जब तक तुम्हारी स्त्री भेद भावना भूलकर मुझको खिला रही थी तब तक "मैं" था, किन्तु अब तो छिलका और केले का भेद आ गया है, अब "मैं" नहीं है।

यह एक छोटा गल्प है किन्तु अधिक शिक्षाप्रद है। भगवान् के निकट किसी प्रकार का भेद नहीं।

भगवान् शंकर महान् विद्वान् थे। बौद्धधर्म को पराजित कर उन्होंने ब्राह्मण्य धर्म का उद्धार किया था। किन्तु उनके सिद्धान्त और कर्म में पूर्ण सामञ्जस्य का अभाव था। एक बार काशी में गंगा स्नानोपरान्त जब वे घाट से होकर रास्ते की ओर आ रहे थे कि उन्होंने एक चण्डाल को कई कुत्तों को साथ लेकर जाते हुए देखा। उसके शरीर स्पर्श के भय से उन्होंने बगल से कट कर जाना चाहा। शंकर के इस सङ्कोच को देखकर चण्डाल ने कहा—हे भगवन् 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' की उक्ति की क्या यही परिणति है? आप तो ब्रह्मज्ञानी के नाम से परिचित हैं। चण्डाल को भी नीच समझने से तो भेद बुद्धि आ जाती है।

परम-ब्रह्म तो "मैं हूँ" बोध के भीतर है अर्थात् हृदय की गुहायित बुद्धि के बीच स्थित है। उनकी स्थिति में ही तो हमारी स्थिति है। सूर्य के आलोक में वे ही स्थित होकर रहते हैं। उन्हीं के कारण तो हमलोगों में जगत् का बोध जाग्रत होता है। वे हमारे 'मैं' का निर्माण कर हमारे लिए

चारों ओर अनगिनत खिलौने बिखरा अपने को उन्हीं सब में छिपा कर रखे हुए हैं। जब हम उनके द्वारा सृष्ट सब कुछ में उन्हीं की परम-सत्ता को देखेंगे, तब हमारा मैंपन खो जायगा। "मैं हूँ" का बोध उसी विराट् "मैं" में लुप्त हो जायगा।

बहुत लोग कहते हैं कि स्त्री और शूद्र वेद-पाठ और ब्रह्म-ज्ञान के अधिकारी नहीं है। यह भी तो भेद-बुद्धि है। भारतवर्ष में वेदमन्त्रों की रचयित्री नारियाँ भी थीं। अतएव यह उक्ति युक्तिसंगत नहीं है। वेदव्यास का जन्म धीवर (केवट) परिवार में हुआ था और उन्होंने ही वेद को, ऋक् यजुः, साम और अथर्व इन चार भागों में बाँटा था। इस-लिए "स्त्री और शूद्र वेद पाठ के लिए अनधिकारी हैं", यह कैसी प्रवञ्चनापूर्ण बातें हैं! साधक के हृदय में भेदबुद्धि का रहना उचित नहीं है। अज्ञान बोधिनी तन्त्र में कहा गया है—

वर्णाश्रमाभिमानेन श्रुतिदास्ये भवेन्नरः।
वर्णाश्रमविहीनश्च वर्तते श्रुति मूर्धणि॥

Vernáshramábhimánena
shrutidásye bhavennarah
Varnáshrama vihiinashca
vartate shruti múrdhani.

ब्रह्म अभेदात्मक एवं अखण्ड-सत्ता है। माँ अपने सभी बच्चों को प्यार करती है। अपनी सन्तान के प्रति हृदय में कोई भेद-भाव नहीं उत्पन्न होता है, सन्तान चाहे अच्छा हो अथवा खराब। ठीक इसी प्रकार परमात्मा की दृष्टि में कोई भी अच्छा वा खराब नहीं है। उनकी कृपा तो सबों पर समान है।

सुख-दुःख की अनुभूति मन की ही सृष्टि है। मन यद्यपि सान्त (अन्तःयुक्त) है तथापि उसकी सीमा अत्यन्त बड़ी है। साधक मन के द्वारा साधना करते हैं। जब वे अपनी साधना द्वारा मन को ब्रह्म में लय कर देते है तभी उनको ब्रह्म साक्षात्कार (ब्रह्मप्राप्ति) होता है। सुख-दुःख के ऊर्ध्व उनका अमर आसन प्रतिष्ठित होता है। उस समय क्या कोई भेद-भावना लेकर रह सकता है? वे प्रत्येक वस्तु में ही ब्रह्म का दर्शन करते हैं। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को कहते हैं—

हे मैत्रेयी! आत्मा ही आनन्द का एकमात्र स्थान है। उसका श्रवण, चिन्तन एवं ध्यान करना उचित है। गभीर भाव में ध्यान करने पर उसका प्रकाश तुम्हें मिलेगा। उनको जान लेने पर और कुछ जानने के लिए शेष नहीं रहेगा। मुण्डकोपनिषद् में है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे (अथर्व)

Bhidyate hrdayagranthishchidyante
sarvasamshayáh
Ksiiyante cásya karmáni
tasmin drst'e parávare.

सब कारणों के कारण-स्वरूप परमब्रह्म के साक्षात् लाभ से जीवों की हृदयग्रन्थि छिन्न हो जाती है। समस्त संशय दूर हो जाते हैं और उनका कर्म क्षीण हो जाता है।

जीवमात्र में ही सुख प्राप्ति और दुःख निवृत्ति की इच्छा है। उनका धर्म ही है सुख प्राप्त करना। वे जो भी कार्य करते हैं, सब के पीछे यही इच्छा काम करती है किन्तु जागतिक सुख, मोह के ही कारण होता है और इससे वे स्थायी शान्ति नहीं पाते हैं। यदि कोई एक हजार रुपए पा जाए तो वह दो हजार पाने की इच्छा करेगा। इसी तरह उसकी कामना अभीष्ट सिद्धि के बाद उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।

कोई भी भोग्य वस्तु अनन्त नहीं है। अतः अनन्त की कामना इन सीमित वस्तुओं में चरितार्थ नहीं होती है। अनन्त तो केवल परमात्मा ही हैं। इसी कारण अनन्त सुख उनको पाने पर ही प्राप्त हो सकता है और इसीलिए साधना की आवश्यकता है अन्यथा इस जागतिक बन्धन से मुक्ति नहीं है। साधना के द्वारा ही सच्चिदानन्द प्राप्त हो सकते हैं।

साधना घर पर स्त्री पुत्रादि को लेकर की जा सकती

है। इसके लिए सन्यासी होने की आवश्यकता नहीं है। सन्यासी शब्द का प्रकृत अर्थ तो सत्य-निष्ठ होता है। साधना को छोड़कर मनुष्य सत्यनिष्ठा में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है। वस्तुतः केवल इसी अर्थ में ही साधना के लिए सन्यास शब्द ग्रहण किया जा सकता है और किसी अर्थ में नहीं।

आनन्द-मार्ग के लोगों! तुम प्रकृत सत्य के पथ पर चलो। जो सत्य तुम में गुहायित होकर है उसे जगा दो। अपनी सुप्त पुरुष-सत्ता का उद्बोधन करो, जिस प्रकार भगीरथ ने पर्वत कन्दराओं के अंधकार से गंगोत्तरी की पवित्र धारा को अपने निष्ठा-बल से उद्बोधित कर दिया था। उसी सत्य की स्रोतोधारा के द्वारा तुम अपने समाज को प्राण-रस से संजीवित कर आगे लिए चलो— अपने दुर्वार आत्मिक स्फुरण को महासमुद्र के पथ की ओर— महामिलन के पथ पर— पवित्र सागर-सङ्गम की ओर। जहाँ जाने पर कोई क्षुद्रत्व की चञ्चलता न रहेगी और न रहेगा अस्तित्व रक्षा के लिए बहिर्मुखी-संग्राम। वहां पर रहेगा केवल एक विराट् 'तुम'। जो अपने अस्तित्व को भी गभीरता के गाम्भीर्य, शिवत्व की महिमा तथा कल्याण-सुन्दर के पुण्य-स्पर्श में भूल जायगा।

(ईसाई-समाज के एक युवक के समक्ष प्रथम गुरु दर्शन काल में उपर्युक्त उपदेश दिया गया था। समीप बैठे हुए श्री आत्मानन्द प्रसाद ने अलक्ष्य रूप से इसे लिपिबद्ध कर लिया था। यह उसी का अनुवाद है)

"जीवन की भित्ति"

किसी खण्ड-सत्ता को बचा कर रखने के लिए एक आधार की आवश्यकता है। यह आधार केवल जड़-सत्ता-रूप में मैंपन को धारण कर रखेगा, ऐसा नहीं, वह प्रतिक्षण उसको प्राण-रस से सञ्जीवित भी रखेगा। यह आधार उसकी जीवनी शक्ति का अफुरन्त उत्स होगा। स्थूल-वस्तु के लिए जिस तरह आधार की आवश्यकता है, उसी तरह सूक्ष्म-वस्तु के लिए भी आधार की आवश्यकता है, यह आधार स्थूल का ही सूक्ष्म रूप होगा।

जिस सूक्ष्म वस्तु के साथ हम अहरह परिचित होते हैं, वह है मन। इसी मन के आधार या जीविका रूप में हमलोग उसके गृहीत, त्यक्त या चिन्तित विषय-समूह को लेते हैं। मन के इस विषय की मूल-सत्ता यद्यपि बहिरङ्गिक है, परन्तु मन इन सबों की आभ्यन्तरीण छाया वा मानसिक साँचे में ढले रूपों को भोग करता है अथवा विषय रूप में लेता है।

अपने-अपने संस्कार के अनुसार किसी जीव का मन

किसी खण्ड वस्तु को विषय-रूप में अधिक समय तक भोग कर सकता है अथवा धीरे-धीरे भोग कर सकता है। किसी वस्तु को अल्प क्षण के लिए भोग करके अर्थात् शीघ्रातिशीघ्र भोग करके विषयान्तर की ओर जाना चाहता है। मन इन खण्ड वस्तुओं में किसी को भी स्थायी भाव से अनन्त काल तक भोग नहीं कर सकता है। कारण, खण्ड वस्तु का आदि भी है, अन्त भी। इस अनन्त पथ में जिस वस्तु का आदि मिला है, उसका अन्त भी मिलेगा। उसको तो चिर दिन भोग नहीं कर सकोगे। काल का कराल हस्त इसको छीन ही लेगा, तौभी मनुष्य इसको नहीं समझता। वह अपने संस्कार के अनुसार जिस वस्तु को मन के विषय-रूप में अधिक क्षण तक रख सकता है अथवा धीरे-धीरे भोग कर सकता है, उसी को वह सुखदायक वस्तु समझता है और उसी विलम्बित गति को सुखात्मक अनुभूति वा सुख की संज्ञा देता है।

किसी का मन रुपए की चिन्ता में अधिक समय तक रत रहता है। उसने अपने जीवन के समस्त माधुर्य को रुपयों के चरणों में सौंप दिया है। किसी ने अपने जीवन में पुत्र या यश को प्रधान विषय बना लिया है। वह पुत्र अथवा यश प्राप्ति के लिए जीवन विसर्जन करने में भी कुण्ठित नहीं होता। ठीक इसी तरह किसी विषय को मन जब अधिक क्षण तक भोग नहीं कर सकता अर्थात् येन-तेन-

प्रकारेण जल्दी-जल्दी भोग करता है तो हमलोग उसको ही दुखात्मक अनुभूति वा दुःख कहते हैं। तुम किसी गलित मृत देह को क्या अधिक देर तक रख सकते हो? नहीं। जो तुम्हारे क्लेश का कारण है, उसके साथ तुम यथा-सम्भव शीघ्रातिशीघ्र अपना वार्त्ता कर क्या निबट नहीं लेते?

इसीलिए कहा था कि दुःखात्मक हो अथवा सुखात्मक कोई भी वस्तु क्यों न हो, उसका खण्ड-त्व निबन्धन स्थायी भाव से तुम्हारा विषय नहीं हो सकता। तुम से उसको और उसमें तुमको विच्छिन्न होना ही होगा। यहाँ प्रश्न उठता है कि अपने को बचाकर रखने के लिए मन की आवश्यकता है और मन को बचा कर रखने के लिए उसको एक निरापद आश्रय चाहिए जो अखण्ड भाव से सब दिन के लिए उसको धारण कर रख सके। मनुष्य सर्वदा ही एक निरापद आश्रय चाहता है। क्या ऐसी बात नहीं है? जब तुम घर बनाओगे तब क्या बालू † के ऊपर बनाओगे? नहीं, तुम घर को मजबूत मिट्टी की दृढ़-भित्ति के ऊपर बनाओगे।

मनुष्य सर्वदा दृढ़-भित्ति खोजता है जो उसके मानस-सौध को अनन्त काल तक अचल बना रखे। काल-शक्ति के

† बालू= बंगला संस्करण में यहाँ पर 'चोरा बालि' शब्द का व्यवहार किया गया है, जिसका अर्थ है ऊपर में बालू का स्वाभाविक रूप, किन्तु भीतर में शून्यता।

विरुद्ध संग्राम में उसे अफुरन्त प्राण-शक्ति देता रहे। क्या जगत् में इस तरह की दृढ़ भित्ति है ? जो खण्ड-सत्ता है, वह निश्चय ही तुम्हारे जीवन की भित्ति हो नहीं सकती है, क्योंकि वह उपभुक्त † हो जायगी, तुममे विलग हो जायगी और तुम्हारी मानस-सत्ता को निराश्रय कर देगी। तुमको निराशा के अन्धकूप में ढकेल कर वह अपने सीमाहीन पथ पर भागते ही रहेगी। इसीलिए हे मनुष्य ! एक मात्र, अनादि, अनन्त, अखण्ड-सत्ता ब्रह्म के सिवा और कोई तुम्हारे मन का विषय नहीं हो सकता, तुम्हारे जीवन की भित्ति नहीं हो सकती है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि इस परिदृश्यमान्-जगत् में जहाँ अजस्र खण्ड-सत्ताओं की भीड़ है, वहाँ ब्रह्म-भित्तिक जीवन किस प्रकार निर्मित करेंगे ? इसका उत्तर यह है कि तुम मधुविद्या का अनुशीलन करो। खण्ड को, प्रेय को, खण्ड वा प्रेय के दृष्टिकोण से न देखकर अखण्ड वा श्रेय के सीमित विकाश के रूप में देखो। तब प्रेय के प्रति आकर्षण, प्रेय के प्रति प्रेम और श्रेय के प्रति प्रेम दोनों अभिन्न हो जायगे।

"विश्वजनेर पायेर तले
धूलिमय जे भूमि
सेइ तो स्वर्ग भूमि

---

† उपभुक्त = व्यवहार के कारण क्षय प्राप्त होना।

सवाय निये सवार माझे
लुकिये आछे तुमि,
सेइ तो आमार तुमि।" —(रवीन्द्रनाथ)

पुत्र को प्यार करते हो। ठीक ही तो है ! परन्तु पुत्र की मृत्यु उपरान्त तुम्हें दिरुण कष्ट होगा; ठीक है न ? पुत्र प्रेय है, खण्ड सत्ता है, वह चिरकाल तक नहीं रहेगा। वह तुमको रुलाकर चला जायगा। किन्तु यदि पुत्र को ब्रह्म के ही पुत्र-रूपी विकाश की दृष्टि से देखो, तब किसी दिन भी तुम्हें उसके खो जाने का भय नहीं रहेगा। क्योंकि, ब्रह्म का किसी काल में भी खो जाना नहीं होता है। वे तो तुम्हारे चारो ओर दशों दिशाओं में मौजूद हैं।

एष ह देवो प्रदिशोऽनुसर्व्वाः
पूर्व्वोहजातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ्जनास्तिष्ठते सर्व्वतोमुखः॥ (श्रुति)

Eśa ha devo pradisho'nusarhvá h
Púrvvo hajátah sa u garbhe antah
Sa eva játah sa janiśyamá ńah
. rityaun janámstiśt hate sarvvatomukhah

हे मनुष्य ! उस समय कोई खण्ड-वस्तु तुम्हारे मन क अपन रंग में नहीं रंग सकेगी। उस समय तुम सच-मुच ही वर्णातीत हो जाओगे। उस समय तुम्हारे सान्निध्य

में जो भी खण्ड-वस्तु आएगी, तुम उसका केवल उपयुक्त व्यवहार कर सकोगे। तुम्हारे सामने ब्रह्म का जो पिता-रूपी विकाश है, उसकी सेवा कर, उनके सुख का ख्याल रखकर, तुम उनके साथ उचित व्यवहार करते जाओ। तुम्हारे सामने ब्रह्म का जो भूमि-रूपी विकाश है, उसमें कृषिकार्य कर, उसकी उर्वरता शक्ति को बढ़ाकर उसके साथ उचित व्यवहार करते जाओ। इसी तरह विषयों के साथ उचित व्यवहार करते जाने पर विषय तुम्हारे मन को जड़त्व की ओर नहीं ले जा सकेंगे। इसी को प्रकृत वैराग्य कहते हैं।

वैराग्य का अर्थ रिनननसिएशन (Renunciation) वा त्याग वा स्त्री-पुत्र-परिवार आदि सब को छोड़कर हिमालय में भाग जाना नहीं है। आनन्दमार्ग इस तरह की पलायनी-वृत्ति का घोर विरोधी है। आनन्दमार्ग के मतानुसार धर्मसाधना वा वैराग्य अनुशीलन गार्हस्थ्य धर्म का अङ्ग है। जिन लोगों के मन में वैराग्य के नाम पर सब कुछ छोड़कर भाग जाने की भावना है, उन लोगों के मन में पराजित-सुलभ-वृत्ति ही है। चोर पुलिस के भय से, देनदार देने के भय से, शोकग्रस्त शोक नहीं सह सकने के कारण, इसी तरह के मनुष्य तथाकथित वैराग्य का आश्रय लेते हैं। इस तरह के वैरागी संसार के घातप्रतिघात को सहन करने की शक्ति नहीं रखते। वे अपनी कापुरुषता को बड़ी-बड़ी बातों की आड़ में छिपा कर रखना चाहते हैं।

तथाकथित वैरागी होने पर भी उनके मन में सांसारिक मोह का आकर्षण कम नहीं रहता है। इसीलिए वे भूल अर्थ समझ हठपूर्वक त्याग साधन करते हैं। फलस्वरूप उनमें से अधिकांश पथभ्रष्ट ही होते हैं।

विराग शब्द मे वैराग्य शब्द की उत्पत्ति है। राग शब्द का अर्थ रंग होता है। जिस साधना के द्वारा खण्ड-वस्तु के प्रति विराग होता है अर्थात् आकर्षण मे मन नहीं रंगता है, वही वैराग्य-साधना है। इस यथार्थ वैराग्य साधना के भीतर मे विश्व की प्रकृत ब्राह्मी-सत्ता मनुष्य के निकट स्फुरित हो उठती है। यही ब्राह्मी-सत्ता ही मनुष्य का प्रकृत आश्रय है, मजबूत भित्ति है जो किसी काल में भी उसे कंगाल कर दूर नहीं हो जायगी। इसी ब्राह्मी आश्रय में निर्भयता से अपने को अनन्तकाल तक प्रतिष्ठित कर रख सकते हो।

भोगे रोग भयं, गुणे खल भयं, रूपे तरुण्या भयं।
कुले च्युति भयं, माने दैन्य भयं, वित्ते नृपालाद्भयं॥
बले रिपु भयं, शास्त्रे वादी भयं, काये कृतान्ताद् भयं।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयं॥

Bhoge roga bhayam, guṇe khala bhayam,
rupe taruṇya bhayam
Kule cyuti bhayam, māne daenya bhayam,
vitte nrpālādbhayam

Bale ripu bhayam, shastre vadii bhayam,
kuye krtantad bhayam
Sarvam vastu bhayanvitam bhuvi nrnam
vaeragyameva bhayam.

(कलकत्ता, आश्विनी पूर्णिमा—१९५५).

यज्ञ और कर्मफल

★

आज का विषय वस्तु है यज्ञ और तज्जात फल। यज् धातु में न (न) प्रत्यय लगाने से यज्ञ शब्द निष्पन्न होता है, इसका अर्थ होता है कर्म। मनुष्य जो भी कर्म करता है उसे हम यज्ञ कह सकते हैं। यहाँ देखना चाहिए कि कर्म का अधिष्ठान कहाँ है? कर्म का अव्यक्त बीज कहाँ रहता है? कर्म का कर्त्ता मन है। कोई कार्य करने के पहले मनुष्य उस कर्म की चिन्ता लेता है और उसकी कर्मैषणा मानस स्तर के तद्मुखी स्पन्दन वा संवेदन में प्रकट हो उठती है। यह मानस-संवेदन जब बहिर्जगत् के कर्म में रूपायित होता है अर्थात् प्रथम मन ही में काम करने की भावना लेने के उपरान्त जब वास्तविक रूप में हाथ पैर के द्वारा कार्य आरम्भ किया जाता है तो उसी अवस्था को क्रिया कहते हैं। संवेदन का अस्तित्व मानस-स्तर (सूक्ष्म-स्तर) में है और कर्म का अस्तित्व सूक्ष्म वा स्थूल दोनों में ही है। कारण, प्रत्येक संवेदन कर्म रूप नहीं लेता है। किन्तु जहाँ पर क्रिया रहती है वहाँ उस क्षेत्र में उसके पूर्व संवेदन का रहना

अवश्यम्भावी है। इसीलिए कर्म या यज्ञ को *Psycho-physical* कह सकते हैं अर्थात् वह मानसिक बाह्यिक उभयतः है। कर्म किए बिना मनुष्य क्षण भर भी नहीं रह सकता है। इसी कर्म वा यज्ञ मे सम्यग् विमुक्ति का नाम ही मुक्ति है। प्रथम यज्ञ सम्बन्धी दो चार बातें कहूँगा। यज्ञ साधारणतः चार प्रकार के हैं:

(१) भूत यज्ञ (२) नृ यज्ञ (३) पितृ यज्ञ (४) अध्यात्म यज्ञ।

इन चार प्रकार के यज्ञों के मध्य में प्रथमोक्त तीनों ही भूत, नृ और पितृयज्ञ *Psychophysical* अर्थात् मानसिक और बाह्यिक उभयतः है किन्तु अध्यात्म यज्ञ सम्पूर्णतः आभ्यन्तरीण है। भूत, नृ और पितृयज्ञ का उद्भव मानसिक संवेदन मे है। वे वास्तव जगत् में रूप ग्रहण करते हैं किन्तु कर्म की सम्यग् निष्पत्ति मानसिक स्तर में होती है। जैसे मैंने किसी को दस रुपए दान किए। इसको हम नृ यज्ञ कहेंगे। यहाँ पर पहले मैंने मन ही मन दान किया। इसी मानसिक संवेदन ने जब बाह्य क्रिया का रूप लिया तब मैंने दान सचमुच में किया। मैंने दान किया है. यह बोध आने के साथ ही दान करने की बाह्य-क्रिया बन्धन हुई अर्थात् क्रिया की निष्पत्ति मानसिक-स्तर में ही हुई। अध्यात्म यज्ञ के क्षेत्र में बात कुछ दूसरी है—इसकी उत्पत्ति आत्मिक—स्तर में हुई और परिणति भी आत्मिक-स्तर में हुई।

(१) भूतयज्ञ :—प्रकाशमान विश्व की किसी भी सत्ता की

सेवा करने का नाम ही भूतयज्ञ है। जैसे वृक्ष में जल सिञ्चन, पशुओं की सेवा, वैज्ञानिक अनुसन्धान तथा जन-कल्याणमूलक कार्य-मात्र करना ही भूतयज्ञ है। संस्कृत भाषा में भूत शब्द का अर्थ है—जिसकी उत्पत्ति हुई है। भूत शब्द का अर्थ अंगरेजी का Ghost वा spirit नहीं है। अंगरेजी के Ghost वा spirit शब्द का संस्कृत में प्रतिशब्द प्रेत है।

(२) नृयज्ञ :- मनुष्यों के समस्त कल्याणमूलक कार्य ही नृयज्ञ हैं। वस्तुतः नृयज्ञ, भूत यज्ञ का एक अंश मात्र है। कारण, मनुष्य भी तो सृष्ट जीव है। नृ यज्ञ के सम्बन्ध में बाद में दो चार बातें कही जायगी।

(३) पितृ यज्ञ :—पूर्व पुरुषों एवं ऋषियों का स्मरण करने को ही पितृ यज्ञ कहते हैं। मनुष्य जब तक शरीर धारण किए हुए है, तब तक पूर्व पुरुषों से उसका ऋण रह जाता है। जब तक वह ऋषियों की तपस्या-लब्ध ज्ञान की सहायता से अपने और समाज की स्वच्छन्दमूलक व्यवस्था करने में सक्षम है, तब तक वह ऋषियों का ऋणी रह जाता है। ऋषि उनको कहते हैं जिन्होंने नूतन-नूतन विषयों का उद्भावन कर मानव समाज को विभिन्न भाव से सहायता किया है और कर रहे हैं। जिन्होंने बैलगाड़ी का आविष्कार किया है, उनको साधना का फल क्या तुमलोग नहीं भोग रहे हो? जिनकी साधना का फल तुम भोग रहे हो उनके प्रति क्या

श्रद्धा रखना उचित नहीं ? उन्हीं लोगों के आविष्कार के ऊपर हमलोग बाकी गवेषणा करते हैं । उनको मनीषा के धारा-प्रवाह से वर्त्तमान काल की मनीषा उद्बोधित हो रही है क्या ऐसी बात नहीं है ? बहुतों को यह कहते हुए सुना जाता है कि विज्ञान सभ्यता के लिए हानिकारक है, सभ्यता के लिए बाधास्वरूप है—प्राचीन जगत् ही सुन्दर था । वे भूल जाते हैं कि प्राचीन जगत् में भी विज्ञान था। यद्यपि वह अत्यन्त अनुन्नत अवस्था में था, तथापि उन्होंने अपनी बुद्धि-वृत्ति के अनुसार विज्ञान का अनुशीलन तो किया था। हमलोग उन्हीं के द्वारा निर्माण किए गए पथ पर आगे चल रहे हैं। पहाड़, जंगल काटकर हमलोग पथ को और भी आगे बढ़ाते जाते हैं। उनलोगों की बैलगाड़ी ने ही हमलोगों को रेलगाड़ी तथा मोटरगाड़ी तैयार करने की प्रेरणा दी है। उन लोगों के द्वारा तैयार की हुई डोंगी को ही हमलोगों ने सबमेरिन के रूप में परिणत किया है। इसीलिए कहता हूँ कि विज्ञान के अनुशीलन में दोष नहीं है। काल का भी दोष नहीं है, दोष है हमलोगों का। विज्ञान हमलोगों को आणविक-शक्ति को ध्वंस-पथ पर चलाने का परामर्श नहीं देता है। हम लोग उसकी सहायता से अपनी जीघांसा चरितार्थ करने की चेष्टा कर रहे हैं। जिन लोगों ने विज्ञान की सहायता से मरणास्त्र की तैयारी की है वे ऋषि नहीं। क्यों कि, उन लोगों की साधना कल्याणधर्मी नहीं है।

किन्तु जो कल्याणधर्मी हैं वे ऋषि-गण अवश्य ही हमारे स्मरणीय हैं। उन लोगों को स्मरण करना ही पितृयज्ञ है।

अध्यात्म यज्ञ—

पहले ही कहा गया है कि अध्यात्म-यज्ञ सम्पूर्ण भाव से आभ्यन्तरीण है। अध्यात्मयज्ञ की प्रेरणा आत्मा से आती है और यही प्रेरणा मानसिक स्तर में कर्मान्वित होती है (अर्थात् साधना मन करता है। और फिर उस कर्म की अवलुप्ति भी आत्मिक-स्तर में ही होती है। अर्थात् मानस साधना की परिश्रान्ति आत्मिक परिश्रान्ति में शेष-स्थिति लाभ करती है। अध्यात्म-यज्ञ निवृत्तिमूलक साधना है और शेष तीनों भूत, नृ और पितृ-यज्ञ प्रवृत्ति निवृत्ति मूलक हैं।

नृयज्ञ चार प्रकार के हैं—(१) शूद्रोचित (२) वैश्योचित (३) क्षत्रियोचित और (४) विप्रोचित।

स्थूल-शरीर के द्वारा जगत् की सेवा करना, अपने को कष्ट देकर दूसरों को सुख पहुँचाना या दूसरों के कष्ट निवारण के लिए कुछ काम करना, जैसे, रोगी की परिचर्या आदि, शूद्रोचित सेवा है। अन्न-जल धन आदि के द्वारा जो सेवा की जाती है वह वैश्योचित सेवा है।

अपने को विपत्ति में डालकर दूसरों को बचाना क्षत्रियोचित सेवा है।

अध्यात्म-यज्ञ को बाह्यिक रूप देना ही विप्रोचित सेवा है। जिस अध्यात्म-ज्ञान का तुमने अर्जन किया है, उसे दूसरों

को भी सिखाओ। उन्हें भी श्रेय के पथ पर चलने की प्रेरणा दो तभी न सामाजिक प्राणी होने का तुम्हारा अस्तित्व सार्थक होगा? शूद्रोचित सेवा ही समाज का मेरुदण्ड है। जो लोग शूद्रोचित सेवा की अवज्ञा करते हैं वे वैश्योचित सेवा कर नहीं सकते। इसीलिए वैश्योचित सेवा का अधिकारी होने के लिए शूद्र बनना ही है। ठीक उसी प्रकार क्षत्रियोचित सेवा करने के लिए शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय तीनों ही बनना पड़ेगा। अतः हम देखते हैं कि जिन लोगों में इस चतुर्वर्ण का गुण है, वे ही विप्र हैं। यद्यपि सब सेवाओं की मर्यादा समान है, फिर भी विप्रोचित सेवा की महत्ता अधिक है। कारण यह है कि विप्रोचित सेवा अध्यात्म-यज्ञ के साथ प्रत्यक्ष रूप से सम्पर्कित है। किन्तु यह बात भुलाई नहीं जा सकती है कि सेवा की महत्ता स्थान, काल पात्र और परिस्थिति पर निर्भर करती है। किसी निर्जन स्थान में एक पथिक विपन्न पड़ा है, उसके प्राण जा रहे हैं, वहाँ विप्रोचित उपदेश से कुछ काम चलने को नहीं। वहाँ तो शूद्रोचित सेवा और शुश्रूषा करनी होगी। अतएव वहाँ शूद्रोचित सेवा ही सर्वश्रेष्ठ है। एक व्यक्ति भूखों मर रहा है, वहाँ तुम क्या करोगे? शुश्रूषा करोगे या उपदेश दोगे? वहाँ तो अन्न की व्यवस्था करनी होगी। अतएव वहाँ वैश्योचित सेवा सर्वश्रेष्ठ है। कई पशु-वृत्ति-मापन्न मनुष्य एक निरीह व्यक्ति के ऊपर अत्याचार कर रहे हैं,

वहाँ उपदेश देना नहीं है, शुश्रूषा भी करनी नहीं है और अन्न भी देना नहीं है। किन्तु वहाँ तुम क्षत्रियोचित सेवा करोगे। वहाँ इसी सेवा की सर्वश्रेष्ठता है, अन्यान्य सेवाएँ बिलकुल अर्थहीन है। किसी मनुष्य के लिए शूद्रोचित सेवा अर्थहीन है और वैश्योचित सेवा का भी कुछ मूल्य नहीं, क्योंकि रुपया पाने से ही मद पीने को आदत बाता जायगा, वह शराब पीना नहीं छोड़ेगा। लाठी मार कर भगा देने से भी वह दूसरी जगह जाकर अपनी वृत्ति को चरितार्थ करेगा। अतएव इस क्षेत्र में क्षत्रियोचित सेवा के साथ-साथ उसको विप्रोचित भाव से सजाना है। उसे समझा-बुझा कर ही मद्यपान की आदत छुड़ानी होगी। केवल दण्ड देने या कानून बनाकर शराब की दूकान बन्द करने से समस्या का समाधान होने को नहीं है। उस अवस्था में उसकी कुप्रवृत्ति प्रकट रूप को छोड़कर लुकछिप कर काम करेगा, परिणामस्वरूप समस्त सामाजिक जीवन व्याधि-ग्रस्त हो जायगा। इसलिए हम देखते हैं कि अवस्था विशेष में चारों प्रकार की सेवाओं की श्रेष्ठता है। फिर भी विप्रोचित सेवा का फल स्थायी है और अन्यान्य सेवाओं का फल अस्थायी है।

सेवा करने के समय मनुष्य को यह भावना लेनी है कि सेव्य नारायण हैं और सेवक साधक। इस भाव के रखने से सेवा करने के समय अहंकार नहीं होगा। अहंकार जीव के पतन का कारण है। अतएव अहंकार दूर करने

के लिए सेव्य के ऊपर नारायण-भाव आरोप करना ही होगा। जिस समय सेवा करोगे, उस समय सेव्य के लिए प्राणापन्न भक्तिभाव से मन ही मन कहना होगा— "हे प्रभु ! हे नारायण ! तुम हमारी सेवा ग्रहण कर कृतार्थ करो। तुम हमारे ऊपर कृपा-परायण हो, इसीलिए हमें सेवा करने का सुयोग देने के लिए जीवरूप धारण कर हमारे सामने आए हो।" इस तरह की भावना रखने से तुम्हारे मन में अहंकार नहीं जगेगा और कर्मफल भी तुम्हें नहीं बाँधेगा। अहंकार वा यशःप्राप्ति की प्रच्छन्न भावना ही कर्मबन्धन का प्रधान कारण है। किसी व्यक्ति ने किसी संस्था को एक हजार रुपए दान दिया। दूसरे दिन उत्सुक भाव से वह अखबार में अपना नाम देखना चाहता है। अखबार में नाम नहीं निकलने पर वह बन्धु-बान्धवों के समीप सगर्व प्रकाशित करता है "अमुक दान तो मैंने ही किया है, परन्तु हम नाम कमाना नहीं चाहते, अतएव अखबार में अपना नाम नहीं छपवाया है।" इस अवस्था में यह समझना होगा कि उस व्यक्ति के मन में यश की भावना प्रच्छन्न-रूप से छिपी है। सचमुच सेवा की भावना लेकर उसने दान नहीं किया। किन्तु जब सेव्य के ऊपर नारायण भाव का आरोप कर कर्म करोगे तब तुम्हारे मन में अहंकार वा यशःप्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं रहेगी। तब तुम सोचोगे कि नारायण की ही कृपा से हमने नारायण की सेवा करने का अवसर

पाया है। हमारे हाथ-पाँव हमारे नहीं है, उन्हीं के हैं और इन्हीं हाथ-पाँव के सहारे वे स्वयं ही अपनी सेवा करके अपने को लेकर लीला कर रहे हैं। इस तरह का कर्म ही निष्काम कर्म है। इससे ही मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्ति पाता है। इसीलिए जब कभी भी सेवा करने का सुयोग पाओगे, तो सेव्य पर ब्राह्मी भावना का आरोप करोगे। सेव्य तो उन्हीं के खण्ड-विकाश हैं। वे उन्हीं का एक विशेष खण्ड-रूप लेकर तुम्हारे सामने खड़े हुए हैं। भूल से भी सेव्य को मनुष्य या जीव न समझो। भाव विभोर हो एक भक्त कहते हैं—

"जहाँ जहाँ नेत्र पड़े, तहाँ तहाँ हरि स्फुरे।"

जिधर-जिधर दृष्टि जाती है उधर ही हरि को देखता हूँ। इसी अवस्था में पहुँचना ही साधक की सिद्धि है। ब्राह्मी भावना आरोप करने से ही क्रमशः तुम सब वस्तुओं में ब्रह्म को ही देखोगे। ब्राह्मी भावना या हरि भावना क्यों लेनी पड़ती है? इसे समझने के लिए तुम को पहले समझना होगा कि भाव-वस्तु क्या है?

शुद्धसत्त्वविशेषाद्वा प्रेम-सूर्यांशुसाम्यभाक्
रुचिभिश्चित्तमासृण्य कृदसौ भाव उच्यते।

(श्री रूप गोस्वामी)

Shuddhasattvavisheśātmā
premasūryāmśhusāmyabhāk
Ruchibhishchittamāsṛṇya
krdasau bhāva uchyate (*Shrī Rūpa Gosvāmī*)

जिसके द्वारा चित्त शुद्ध होता है, प्रेम-रूपी सूर्य-किरणों से दशों दिशाएं उद्भासित होती हैं, परब्रह्म के लिए एक विशेष रुचि उत्पन्न होती है, चित्त में मसृणता या कोमलता आती है, उसे ही भाव कहते हैं। सेव्य के ऊपर ब्रह्म भावना लेने का उद्देश्य भी यही है।

मनुष्य के मन में भाव वस्तु का प्रयोग का विकाश तीन तरह से होता है—

(१) प्रत्यक्ष प्रयोग—Direct imposition.

(२) परोक्ष प्रयोग—Indirect imposition

(३) स्वतः स्फूर्त —Spontaneous

प्रत्यक्ष प्रयोग— मान लो तुम नाटक में शाहजहाँ की भूमिका में अभिनय कर रहे हो। उस समय तुम्हारी मातृ-भाषा संस्कृत होने पर भी तुम जानबूझ कर फारसी में ही बोलोगे। उस अवस्था में तुमने "मैं शाहजहाँ हूँ" ऐसा भाव जानबूझ कर लिया है और मन का उसी भाव में भावित कर उसी रूप में आचरण करते हो। उस समय तुम्हारी व्यक्तिगत-सत्ता शाहजहाँ की सत्ता से ढँक जाती है। इसी को भाव का प्रत्यक्ष प्रयोग कहते हैं।

परीक्षा प्रयोग— तुम जानबूझ कर कोई भाव नहीं लेते, किन्तु दूसरे द्वारा प्रभावित या सम्मोहित (Hypnotised) होकर अनजाने ही उसकी भावना के अनुसार काम कर जाते हो। तुम्हारी अपनी विशिष्टता उसकी भावधारा के अन्तराल में चली जाती है उस अवस्था में सम्मोहनकारी के निर्देश से तुम बालू को चीनी समझोगे और उसमें मिठास भी पाओगे।

स्वतःस्फूर्त— इसमें भाव भीतर से आता है और जो भाव सत्य है वही परिस्फुटित हो उठता है। तुम लोगों को ईश्वर प्रणिधान में ऐसा ही भाव आता है। इसके प्रारम्भ में साधक के भीतर "मैं हूँ" का बोध ठीक ही रहता है। वह समझ सकता है कि "मैं ब्रह्म की साधना कर रहा हूँ"।

आनन्द-मार्ग की साधना-पद्धति में यही "मैं हूँ" का बोध स्वतःस्फूर्त भाव में विकशित या अभिव्यक्त होकर ब्रह्मभाव में पर्यवसित होता है। इसी स्वतःस्फूर्त भाव को असाधक सहज रूप में समझ नहीं सकते। इसीलिए वे अनेक बार मिथ्या डर से भयभीत हो जाते है। वे तो नहीं जानते हैं कि साधक ने उस समय किस अपार आनन्द के स्रोत में अपने को प्रवाहित कर दिया है। मैं हनुमान, मैं राधा, ऐसे किसी भाव को तुम्हें लेना नहीं है। अध्यात्म-यज्ञ सम्पूर्णरूप से

आभ्यन्तरिक स्तर में होता है। इसीलिए इसमें कोई प्रयोग या आरोप या Imposition करने की कोई आवश्यकता नहीं ।

किन्तु भूत, नृ और पितृयज्ञ में प्रयोग या आरोप या Imposition का प्रयोजन है । सेव्य नारायण हैं ऐसा भाव लेना ही होगा। यदि इस भाव का तुम प्रयोग नहीं करो, तब उसका परिणाम क्या होगा ? तुम्हारा यज्ञ ही व्यर्थ हो जायगा। इस बात को मन में रखना होगा कि कर्म के साथ उसका कर्मफल भी ओतप्रोत भाव से जड़ित रहता है। जब तुम कर्म करते हो तब उसका कर्मफल भी भोगना ही होगा। गीता कहती है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"

Karmaṇyevādhikāraste mā phaleṣu kadācana.

तुम्हारा अधिकार कर्म पर ही है, कर्मफल पर नहीं। जिस मुहूर्त्त में तुमने कर्म किया है कर्मफल की सम्भावना भी साथ-ही-साथ अर्जित कर ली है । मूल कर्म जहाँ हो रहा है, प्रतिकर्म का बीज भी साथ ही-साथ वहाँ उप्त (बोया गया) हो रहा है और उसका परिणाम भी तुमको भोगना ही होगा। उससे तुम्हें छुटकारा मिलने को नहीं । उससे छुटकारा पाना या फल भोग का अतिक्रमण करना तुम्हारे अधिकार में नहीं है। तुम्हारा अधिकार केवल कर्म के ऊपर है। तुम इच्छा करने से कर्म कर भी सकते हो और इच्छा

नहीं करने से नहीं भी कर सकते हो।

हम जिसे संस्कार कहते हैं वह तो *Reaction of Karma in its potentiality* है अर्थात् कर्म का जो प्रति कर्म है उसी का बीज है। यज्ञ की पूर्णता आहुति में है। कर्म और यज्ञ एक ही वस्तु है और चतुर्विध कर्मों की पूर्णता है प्रियतम वस्तु की आहुति में अर्थात् आत्माहुति में। रामयज्ञ का अर्थ है राम में अपने को आहुति देना, राम में अपने को समर्पण करना। विष्णु-यज्ञ का अर्थ भी इसी तरह है। विष्णु शब्द का अर्थ है व्यापनशील। इसीलिए विष्णु-यज्ञ की पूर्णता विराट् सत्ता में अपने को लय करने में होती है। जो लोग यज्ञ में घृताहुति देते हैं वे भ्रान्त हैं। वे सोचते हैं कि अग्नि में घृताहुति देने से वृष्टि होगी। वे आज भी अंध-कुसंस्कार के युग में पड़े हुए हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हमलोग देखते हैं कि अग्नि में घी देने से घी जल जाता है और अदग्ध अंगार-कण धुआँ होकर ऊपर उठ जाता है। सभी जानते हैं कि घी मूलतः उद्जन (*Hydrogen*) और अंगार (*Carbon*) की रसायनिक परिणति है। घी जलाने से जो कुछ भी जलीय-वाष्प उत्पन्न होता है, वह अति सामान्य है। अतएव हजार मन घी जलाने से भी कितना मेघ बन सकता है? यह तो घी का सम्पूर्ण रूप से दुरुपयोग है। घी का उपयुक्त व्यवहार यदि

करना हो तो दुर्बल लोगों को खिलाओ, जिसमें उनका स्वास्थ्य अच्छा बने । वर्षा कराना हो तो भूत-यज्ञ करो। वैज्ञानिक अनुशीलन भूत-यज्ञ के ही अन्तर्गत है कृत्रिम मेघ बनाओ। जहाँ वर्षा की आवश्यकता हो वहाँ उसे काम में लाओ।

साधको ! तुम राम अर्थात् परमात्मा में अपने को अर्थात 'मैं हूँ' बोध की आहुति देकर राम-यज्ञ को सार्थक करो। 'मैं हूँ' इस अभिमान को सर्वव्यापक परमात्मा में लीन कर अपने महाविष्णु-यज्ञ को पूरा करो। इस काम के लिए द्वार-द्वार जाकर अर्थ-भिक्षा करना तुम्हारे लिए प्रयोजन नहीं है। अध्यात्म-यज्ञ तो भीतर की वस्तु है। इसके लिए रुपये-पैसे की क्या आवश्यकता है ? स्थूल, बाह्यिक विषय का प्रयोजन तो केवल भूत, नृ और पितृ-यज्ञ में होता है, अध्यात्म-यज्ञ में नहीं। ईश्वर प्रणिधान ही तुम्हारा अध्यात्म यज्ञ है। इसमें मन में क्रमशः स्वतःस्फूर्त-भाव का प्रकाश होता रहता है। इसलिए इसमें राम या विष्णु या अनुरूप किसी विशेष भाव को लेने की आवश्यकता नहीं होती है।

भूत, नृ या पितृयज्ञ में विशेष भावना लेने का प्रयोजन है। भावना लेने से ही तुम कर्म में लिप्त नहीं होगे—कारण, उसमें तुम्हारे मैंपन का अहंकार जागने का अवसर नहीं मिलेगा। ईश्वर के निर्देश से, ईश्वर के खण्ड-विकाश

तुम ईश्वर ही की सेवा कर रहे हो। इस तरह का भाव रहने से अहंकार तो टिक नहीं सकता है। तुम जानते हो कि जैसा तुम्हारा लक्ष्य होगा, तुम्हारे कर्म का परिणाम भी ठीक तदनुयायी ही होगा। जब तुम अपने कर्म का कर्तृत्व भगवान में अर्पण कर देते हो, तब कर्मफल भी तो भगवान का ही हो जाता है। तब इस भावना को आरोप करते समय देखना है कि तुम्हारी भावना प्रेमयुक्त है, मययुक्त नहीं। भय से प्रेम नहीं होता। प्रेम नहीं रहने से सेवा नहीं होगी और तुम्हारा भूत, भू और पितृ यज्ञ व्यर्थ हो जायगा। भावना प्रेम-मिश्रित होनी ही चाहिए। प्रेम क्या है ?

सम्यङ् मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कित
भाव स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमानिगद्यते (श्री रूप गोस्वामी)

Samyaun masrn itosvánto
mamatva tishaya un kita
Bhá va sa eva sándra tma
budhach premá nigadyate
(*Shrii Rú pa Gosv mii*)

प्रेम स्वार्थ-शून्य होगा—तुम मुर्गी पालते हो। उसके ऊपर भी तो तुम्हारा प्रेम रहता है। उसको तुम धान खिलाते हो। कोई तुम्हारी मुर्गी ले जाता है, तो उसके साथ तुम मारपीट एवं झगड़ा भी कर लेते हो। किन्तु वह क्या तुम्हारा निष्काम प्रेम है ? प्रेम को तो निर्मल होने की

आवश्यकता है, अकपट होने की आवश्यकता है। प्रेम निर्मल कैसे होगा? सेवा करते समय अपने अन्तर में यह भावना रखोगे कि मैं सेव्य के आराम के लिए, उनके मंगल के लिए, सेवा कर रहा हूँ। इससे तुम्हारी सेवा स्वार्थहीन होगी। प्रेम भी निर्मल होगा। अपने सुख के लिए जो सेवा की जाती है, उसमें निर्मलता नहीं रहती। मुर्गी को तो तुम अपने सुख के लिए खिलाते हो। वहाँ तुम्हारी भावना यह रहती है कि यह मुर्गी एक दिन अण्डा देगी और मैं उसे बेचकर पैसा पाऊँगा।

"निज सुख लागि जे करे पिरीति, से जानि' गरल खाए

जहाँ भूतयज्ञ, नृयज्ञ और पितृयज्ञ करना है, वहाँ प्रेम रस सिंचन कर ब्रह्म भावना लो। भय का भाव लेकर प्रेम करने की चेष्टा अर्थहीन है। जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ पूर्ण आत्माहुति हो नहीं सकती और वहाँ यज्ञ भी निष्फल होता है।

कर्म तप, योग, ज्ञान,
विधिभक्ति जप ध्यान,
इहा होइते माधुर्य दुर्लभ।
केवल जे, रागमार्ग,
भजे कृष्ण अनुरागे,
तारे कृष्ण माधुर्य सुलभ—(चैतन्य चरितामृत)

ऐसा कर्म करना चाहिए, ऐसा यज्ञ करना चाहिए, इस

तरह उठना चाहिए, इस तरह बैठना चाहिए, इस तरह खड़ा होना चाहिए, ऐसी भावना लेकर जो व्यस्त हैं, उनका जीवन यन्त्रवत् (*machine*) हो जाता है और उसमें आनन्द का अभाव रहता है। इसीलिए इस तरह के विधि मार्ग को यथार्थ में कर्म नहीं कह सकते। अपने को कष्ट देकर दूसरे की सेवा करना तप कहलाता है। प्रेम नहीं है, लोगों को दिखलाने के लिए जो दिखावटी सेवा करते हैं, ऐसी सेवा, ऐसा तप, निष्फल है।— विधि भक्ति अर्थात् दिखावटी जपतप, माला फेरना आदि समस्त कर्म केवल लोगों को दिखाने के लिए हो जाते हैं। निर्मल प्रेम एवं परम लक्ष्य उनके सामने से हट जाता है। इन समस्त दिखावटी कर्मों से ब्रह्म की उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि विधि विचार में आनन्द की मधुरता का अभाव देखा जाता है। जिनकी साधना की मूल कथा प्रेम है उनके लिए ही ब्रह्म-माधुर्य सुलभ है।

यहाँ देखना है कि सेवा के द्वारा किस तरह कर्मफल क्षय होता है। जहाँ अहं भावना रहती है, वहाँ कर्म के साथ कर्मफल भी रहता है। एक "मैं" का ही मानसदेह में कर्म और प्रतिकर्म का संवेदन होता जाता है। जहाँ मैं कर्त्ता है, वहाँ मैं भोक्ता भी है। निष्काम कर्म में मैं कर्त्ता नहीं, अतएव मैं भोक्ता भी नहीं। निष्काम कर्म में कर्म बन्धन नहीं होता है। कारण, वह जो कुछ भी करता है,

सबको परब्रह्म में समर्पण कर देता है, अतएव कर्मफल भी परमात्मा के ऊपर अर्पित हो जाता है, अर्थात कर्म भी परमात्मा का और फल भी परमात्मा का। अपने को नारायण का यन्त्र मानकर निष्काम कर्म करते जाओ। यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है कि जो व्यक्ति क्लेश भोग कर रहा है, वह तो अपने कर्म की ही प्रतिक्रिया का भोग कर रहा है। इस अवस्था में क्या मुझे उसकी सेवा करनी उचित है? इसका उत्तर बहुत सरल है। मैं सोचूंगा ही नहीं कि वह अपना कर्मफल भोग रहा है। मैं तो यही सोचूँगा कि मुझे किस भाव से काम करना होगा? मुझे तो उस समय यही समझना होगा कि परमात्मा एक विशेष लीला कर कष्ट भोग रहे हैं और इस तरह वे मुझे अपनी सेवा करने का सुयोग प्रदान कर रहे हैं। वे कृपा कर, मेरी सेवा ग्रहण कर, मुझे कृतार्थ कर रहे हैं। नारायण की लीला दुर्बोध्य है। आर्त्त के ऊपर नारायण भाव अर्पण करो।

संवेदन जिस तरह कर्म का रूप धारण करता है, उसी तरह प्रतिसंवेदन भी उस कर्म का ठीक विपरीत फल भोग करता है। चित्त या संवेदन के स्वभाव के अनुरूप कर्म का भी स्वभाव निर्धारित होता है। फिर बाह्य-जगत में प्रतिक्रिया या फल-भोग के स्वभाव के अनुरूप चित्त में ठीक पूर्वोक्त कर्म के विपरीत संवेदन सृष्ट होकर, उनकी मानसिक समता ला देता है। हाथ कटने से यदि कष्ट न हो अर्थात चित्त में भोग-

जन्य प्रतिसंवेदन सृष्ट न हो, तो फिर कर्मफल या सजा भोग नहीं हुआ। जिनका मन क्षुद्रता से मुक्त है, विराटत्व में प्रतिष्ठित है, वहाँ व्यष्टिकृत कर्मभोग का प्रश्न नहीं उठता है। कारण, व्यष्टि वहाँ व्यष्टि-भाव लिए कोई काम नहीं करता।

कर्म, याग, तप तथा ज्ञान, जहाँ भेद-बुद्धि लेकर किए जाते हैं, वहाँ अहंकार की जागृति अवश्य ही होगी, व्यष्टि वैशिष्ट्य अवश्य ही रहेगा। कर्म जब परमात्मा में समर्पित कर दिया गया, वहाँ कर्मफल भी उनका ही हो गया। तब व्यष्टि न कर्त्ता और न भोक्ता रहा। तुम्हारा क्या रहा?

साधक में कभी-कभी दिखावटी अहंकार देखा जाता है। परन्तु वह तो अपने लिए नहीं होता, किन्तु परमात्मा के लिये होता है। इसका नाम सात्त्विक अहंकार है। निष्काम कर्म में जो अहंकार रहता है, वह व्यष्टि मैं-केन्द्रिक क्षुद्रता-जन्य नहीं, विराट् मैं-जन्य होता है। राधा कहती है—

बँधु तोमारई गरवे गरविनी हम, रूपसी तोमारई रूपे।

"मैं गर्व करती हूँ तुमको लेकर। राधा का यह जो रूप है, इस रूप के तुम्हीं अधीश्वर हो। तुम्हारा रूप लेकर ही तो राधा रूपवती हो गई है। तुम से प्रेरणा लेकर ही न मैं कर्म करती हूँ? कर्त्ता भी तुम ही हो, भोक्ता भी तुम ही हो।"

ठीक ऐसा ही भाव लेकर कर्म करो। मनुष्य जितना

अधिक निष्काम कर्म करेगा, उसकी गति नारायण की ओर उतनी ही अधिक होगी और मैंपन का बोध क्षय होता जायगा। नारायण भाव में पहुँचते-पहुँचते क्षुद्र मैं निःशेष हो जायगा। निष्काम-कर्म है छोटा मैं के साथ संग्राम और बड़े मैं की प्राप्ति। अहंकार जितना कमेगा छोटा मैं उतना ही छोटा होता जायगा और उतना ही "बड़े मैं" की दिव्य ज्योति से चिदाकाश उद्भासित होता रहेगा। इसीलिए आनन्द-मार्गी को निष्काम कर्म के पथ पर चलना ही होगा। अध्यात्म-यज्ञ के साथ-साथ भूत, नृ और पितृ-यज्ञ को भी करना होगा और तभी ब्रह्माग्नि में सम्यग् रूप से आत्माहुति देनी हुई।

'मैं हूँ' या मैंपन का बोध ठीक दर्पण जैसा काम करता है। मूल वस्तु परमात्मा है और दर्पण में उसका प्रतिफलन ही जीवात्मा है।

यथा दर्पणाभाव आभासहानौ
मुखं विद्यते कल्पनाहीनमेकम्
तथा धी वियोगे निराभासको य
स नित्योपलब्धि स्वरूपोऽयमात्मा (हस्तामलक)

Yathá darpaṇábhává ábhá sahánau
Mukhaṁ vidyate kalpaná hínamekam
Tathá dhívíyoge nirábhá sakoyah
Sah nityopalabdhi svarupo'yamatmá.
(Hastámalaka)

आईना नहीं रहने से प्रतिफलन का प्रश्न नहीं उठता है। धी अर्थात् बुद्धितत्त्व या महत्तत्त्व-रूप आईना जहाँ नहीं है, वहाँ प्रतिफलन-स्वरूप जीवात्मा भी नहीं है। व्यष्टि मैं का जहाँ नाश हो गया है, उस अवस्था में जो रहते हैं वे ही हमारे स्वरूप हैं। वे ही प्राणों के प्राण, आत्मा की आत्मा, परमात्मा है। इस छायासत्ता जीवात्मा को मूलसत्ता परमात्मा में लीन कर देने के लिए आईना रूप बुद्धि-तत्त्व को खत्म कर देने की साधना ही साधना है और इसके लिए आवश्यक है निष्काम कर्म।

यज्ञ, कर्मफल की निवृत्ति के लिए किया जाता है, 'छोटा मैं' को शेष करने के लिए किया जाता है। नृयज्ञ में जो चतुर्विध सेवाओं का उल्लेख किया गया है, उसे कोई भी मनुष्य आसानी से कर सकता है। सेवा का थोड़ा बहुत अवसर सभी मनुष्यों को मिलता है। यदि कोई निर्धन मनुष्य सोचे कि मैं वैश्योचित सेवा किस भाँति कर सकूँगा, मुझे तो रुपए पैसे का अभाव है, तो वह भूल करता है। करोड़पति के लाख रुपए के दान का मूल्य गरीब के कई पैसों के दान के बराबर है। बल्कि यह कई पैसे का दान ही कुछ अधिक है। भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधन के राजभोग से विदुर की खुद्दी (नण्डुल-कण) को ही अधिक माहात्म्य दे गए हैं। जो भी हो, प्रत्येक व्यक्ति अपने सामर्थ्यानुसार जगत

की सेवा जरूर करे। तुम में जितनी ही शक्ति हो उतना ही तुम जीव का कल्याण करो। तुम्हारी जितनी बुद्धि हो उसी के द्वारा लोगों को समझाओ। उसी के द्वारा विशेषोचित सेवा करो। प्रत्येक व्यक्ति चार प्रकार के यज्ञों को यथासाध्य करें। अध्यात्मयज्ञ आभ्यन्तरीण यज्ञ है और अन्त में आत्म-स्वरूप परमात्मा में उसकी निवृत्ति (परिणति) होती है, इसलिए तुम्हारी यह साधना निरपेक्ष भाव से होनी चाहिए। किन्तु शेष सारी साधनाएँ, सभी प्रकार की सेवाएँ, सब प्रकार के यज्ञ पहले बहिर्मुखी होकर दूर से सुदूर की तरफ उत्सारित होते चलेंगे फिर वे अन्तर की तरफ लौट आएंगे और सबसे अन्त में तुम्हें प्रतिष्ठित करेंगे तुम्हारी ही अन्तरतम सत्ता में, तुम्हारे ही जन्म-सिद्ध अधिकार-लब्ध रत्न-सिंहासन पर। याद रखो कि कोई यज्ञ किसी में कम नहीं है।

इसीलिए कहता हूँ कि जब तक तुम्हारा अस्तित्व है, तुम्हें यज्ञ करना ही होगा। जिस मुहूर्त्त में तुम यज्ञ सम्पादन से पीछे हटोगे या असमर्थ होगे, उसी मुहूर्त्त में अन्धकार के अन्तराल में चले जाओगे, यह तुम कर नहीं सकते। अपनी सत्ता को बृहत् से बृहत्तर, महत् से महत्तर की ओर ले जाना ही तुम्हारा धर्म है। अपने को अंधकार में खो देना तुम्हारी सत्ता का धर्म विरोधी है। तुम अनन्त सुख के प्यासे हो, अनन्त जीवन के प्रयासी हो, तुम अपने वक्ष के उत्ताप में, धमनियों और शिराओं की शोणितधारा में, हृद्पिण्ड

के स्पन्दन में, उसी अनन्त जीवन के साथ ही संयुक्त हो कर हो। अनन्त यौवन की वाणी अहरह सुनते आ रहे हो? तुम क्या जड़ की तरह यज्ञ-हीन, कर्महीन अवस्था में रहने की बात सोच सकते हो? तुम्हारी जो परमाप्राप्ति, परमासिद्धि है, उस चरम अवस्था में भी तुम अनन्त ज्ञानशक्ति में चिर समाहित होकर रहोगे। मनुष्य! तुम तेजस्विता में प्रतिष्ठित होओ, पौरुष में प्रतिष्ठित होओ, वीर्यवत्ता में उद्बोधित होओ। कारण, तुम्हारा पथ विप्लव का पथ है। अतिसावधानी का विधिबद्ध गतानुगतिकता का पथ तुम्हारे लिए नहीं है। ऊबड़-खाबड़ पथ के तुम यात्री हो। दुर्गम पथ के तुम यात्री हो। मार्ग के ध्वज को ऊपर उठाकर, उन्नत मस्तक, छाती को तान तुम्हें आगे बढ़ना है। रुकने या पीछे देखने के लिए तुम्हें अवकाश नहीं है।

(माघी पूर्णिमा–१६·५)

"ब्रह्म कृपाहि केवलम्"

निर्गुण ब्रह्म अनादि अनन्त है, सगुण ब्रह्म भी अनादि अनन्त है। साधारण मन में प्रश्न उठ सकता है कि जब सगुण ब्रह्म अनन्त निर्गुण ब्रह्म के मध्य है तब वे निश्चय ही अनन्त मे कुछ छोटे हैं अर्थात् सान्त हैं। मनुष्य इसी भ्रम में पड़ता है। कारण, अनन्त के सम्बन्ध में उसकी कोई धारणा नहीं है और न धारणा रखने की शक्ति ही है। दश मे चार घटा लेने पर छः बच जाते हैं। यहाँ पर दश और चार दोनों ही सान्त हैं। उनका वियोगफल छः भी सान्त है। किन्तु अनन्त से अनन्त वा सान्त कुछ भी क्यों न निकाल लिया जाय, फल अनन्त ही रहता है। अनन्त निर्गुण ब्रह्म से अनन्त सगुण ब्रह्म को निकाल देने से, शेष अनन्त निर्गुण ब्रह्म ही रह जाता है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णाद् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ (यजुः)

Púrńamadah purńamidam
púrńád púrńamudacyate
Púrńasya púrńamádáya
púrńameváshisyate.

अर्थात् यह भी पूर्ण है, वह भी पूर्ण है। पूर्ण से ही पूर्ण का उदय हुआ है और पूर्ण मे पूर्ण निकाल लेने पर जो शेष रहता है, वह भी पूर्ण (Infinite) है।

इस सगुण ब्रह्म में ही पुरुषोत्तमरूपी ज्ञानकेन्द्र और उनका मनरूपी विषय है। यह पुरुषोत्तम क्या अनन्त हैं या सान्त हैं? जिस हेतु मे पुरुषोत्तम पुरुष भाव में स्थित है, उसी हेतु उनका ज्ञान स्वरूपत्व नष्ट नहीं होता है। वे माया (प्रकृति) के बन्धन में नहीं बाँधे गए हैं। जो वस्तु माया के बन्धन में नहीं बँधी है, वह देश, काल, पात्र के बाहर ही है। इसीलिए इस पुरुषोत्तम की सत्ता नैर्व्यक्तिक, अदैशिक और अकालिक है अर्थात अनन्त है।

यहाँ पर यह देखना है कि पुरुषोत्तम का मन अर्थात् ब्रह्ममन अनन्त या सान्त है? मन कहने मे तीन वस्तुओं का बोध होता है— महत्-तत्त्व, अहंतत्त्व और चित्त। महत्-तत्त्व में प्रकृति का केवल सत्त्व-गुण के विकाश के कारण इस 'वृहत मैं" (ब्राह्मी मैं) में सीमा की रेखाएँ नहीं हैं। वस्तु को ससीम कर कोई रूप देना तमोगुण का काम है।

ठीक इसी कारण से सगुण ब्रह्म का अहंतत्त्व अर्थात्

जहाँ केवल सत्त्व और रजोगुण है वहाँ कोई जड़त्व वा फल-ज्ञापक सीमा तैयार नहीं हो सकती है। इसीलिए हम लोग देखते हैं कि ब्राह्मी-मन का महत्-तत्त्व और अहं-तत्त्व अनन्त हैं, अर्थात् ब्राह्मी-मन अनन्त है। ब्राह्म-मन की स्थूलतम अभिव्यक्ति ब्राह्मी-चित्त क्या अनन्त है या सान्त? चित्त जब तमोगुण के प्रभाव में तैयार हुआ है तब निश्चय ही उसका एक रेखा-बन्धन है। जिस तरह एक-एक भाव में वे निर्दिष्ट विशेष परिमाण पाञ्चभौतिक उपादानों से निर्मित हुए हैं वा अस्तित्व रक्षा कार्य के लिए उन उपादनों का ग्रहण वा वर्जन करते हैं, उसी तरह समग्र भाव में ब्राह्मी-चित्त एक विशेष रूप लेकर रहता है, जैसी सीमा व्यष्टि चित्त की रहती है। इन दोनों में अन्तर यही है कि व्यष्टि चित्त का उपादान ब्राह्मी चित्त की छाया मात्र है। इसी ब्राह्मी चित्त का विकाश यह पाञ्चभौतिक जगत् है जो व्यष्टि-चित्त का सूक्ष्म रूप स्रष्टा है। यह पाञ्चभौतिक जगत् जो ब्रह्म मन का चित्त धातु के सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं, वही व्यष्टि जीव-समूह के भोग देह का उपादान बना है। यह पाञ्च-भौतिक-जगत यद्यपि अति विराट् है, अति विशाल है, तौभी यह अनन्त नहीं है। कारण, यह ब्राह्मी चित्त का ही सामग्रिक विकाश है जो तमोगुण की सहायता से सृष्ट हुआ है। यह अवश्य ही सीमारेखा से रेखायित है। ये ग्रह, नक्षत्र, ज्योतिष्कपुञ्ज इनमें से प्रत्येक का जिस प्रकार विशेष-विशेष

आकार है उसी तरह इनकी समष्टि भी निराकार नहीं है। कारण, ये सब ब्राह्मी-मन के चित्त-सञ्जात है। वैज्ञानिक भी एक दिन इसी तथ्य पर पहुँचेंगे और ऋषि वाक्य की अक्षरशः को स्वीकार कर लेंगे। सौर-जगत् के अनुरूप अण्डाकृति इस अति बृहत् ब्रह्म-चित्त को ही ब्रह्माण्ड कहते हैं।

वर्त्तमान परिदृश्यमान् विश्व सीमित है (वह कितना ही बड़ा हो) किन्तु क्या ब्रह्म की चैत्तिक-सत्ता भी सीमित है? अर्थात् वर्त्तमान चैत्तिक-सत्ता, अग्रगति के फलस्वरूप जिस दिन निर्गुण ब्रह्म में स्थिति लाभ करेगी, उस दिन क्या चित्त धातु के अवलुप्त होने के कारण सगुण ब्रह्म भी मोक्ष लाभ करेंगे? नहीं, ऐसा नहीं है। ब्रह्म का वर्त्तमान चैत्तिक-विकाश सीमित रहने पर भी उनकी चैत्तिक-सत्ता सीमित नहीं है। सगुण ब्रह्म का उद्भव कालातीत है। इसीलिए अनादि-काल से ही उन्होंने प्रजापति के रूप में जो कुछ भी कार्य किया है, उसके फलस्वरूप उन्होंने अनन्त संस्कार सञ्चय किया है। जिस संस्कार का मूल कर्म किसी एक सीमित चित्त ने नहीं किया है। इसके लिए चित्त के बाद चित्त, अनन्त संख्यक चित्त बना है और ध्वंस हुआ है। उसका संस्कार भोग करने के लिए ब्रह्म-मन का अनन्त संख्यक चित्त बनेगा और ध्वंस होगा। अतएव उनके इस सीमित चित्त (यह

चित्त भी कितना ही बड़ा क्यों न हो) में उनके समस्त संस्कार की अभिव्यक्ति वा स्फुरण नहीं हुआ है और हो भी नहीं सकता है। जैसे-जैसे उनका यह चित्त क्षय होता रहता है, ठीक उसके साथ-साथ उनका अव्यक्त वा अस्फुरित संस्कार-समूह उन्हें प्रारब्ध भोग कराने के लिए उनकी मानस-देह में नवीन चित्त धातु सृष्ट करता रहता है।

जैसे-जैसे क्रम-विकाश के फलस्वरूप आज की नीहारिका, ग्रह, नक्षत्र में एवं सब के अन्त में साधना के सर्वोच्च स्तर में, निर्गुण सत्ता में मिलती जायगी, ठीक उसी के साथ-साथ नई-नई नीहारिकाएँ सृष्ट होंगी, नए-नए छायापथ, नवीन अणु-परमाणु और विद्युत-कण सृष्ट होंगे।

इसीलिए कहता हूँ कि ब्रह्म का वर्त्तमान चित्त तो सीमित है, किन्तु चित्त धातु असीमित है, अनन्त काल तक रहेगा। अतएव हम देखते हैं कि ब्राह्मी चित्त सचमुच में जब अनन्त-संख्यक चैत्तिक विकाश की ही समष्टि है तब उसे (ब्राह्मी चित्त को) अनन्त कहने में कुछ भूल नहीं होगी।

इसलिए हे मनुष्य! याद रखो कि सभी सत्ताओं के साथ-साथ तुम्हारा अस्तित्व भी परिवर्त्तन के पथ से आगे बढ़ता जायगा। ब्राह्मीचित्त का सम्यग् ध्वंस किसी काल में भी नहीं होगा। इसलिए तुम्हें प्रलय के भय से भयभीत

होने का कोई कारण नहीं है।

जो ऐसा समझते हैं कि जीव के मोक्ष लाभ करने में ब्रह्म का कोई बड़ा स्वार्थ है, वे भूल करते हैं। एक जीव के मोक्ष से ब्राह्मी चित्ता का कितना बड़ा अंश झर जायगा। फिर अव्यक्त संस्कार में उतना तैयार भी तो होगा ? वे अपने प्रारब्ध भोग के लिए कल्पना करते चल रहे हैं और उनका यह भोग-काल, अनन्त काल तक चलेगा। इसीलिए व्यष्टि जीव के मोक्ष में उन्हें आनन्द हो सकता है, किन्तु उससे उन्हें मोक्ष लाभ करने में कितनी सुविधा मिली ?

मनुष्य को उनके प्रति सर्वदा कृतज्ञ रहना उचित है। कारण, उन्होंने ही कृपाकर मनुष्य को मोक्ष साधना की योग्यता दी है। जो मनुष्य मोक्ष साधना का विरोध कर क्रमशः जड़त्व की ओर जाते हैं, उनके ऊपर भी वे अकातर भाव से कृपा-वारि-वर्षण करते रहते हैं। ब्रह्म की निन्दा करो, उनका अस्तित्व अस्वीकार करो, तौभी वे तुम्हारे प्रति रुष्ट नहीं होंगे। वे तुम्हें ध्वंस के पथ पर नहीं ढकेल देंगे। उनका क्षमा-सुन्दर-भाव सर्वदा ही अक्षुण्ण रहेगा। वे तुम्हें सदा संशोधन का पथ निर्देश करते रहेंगे। उनके समान अकृत्रिम सखा, हमदर्द बन्धु तुम्हारा और कौन है ?

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देव देव।"

Tvameva mátá ca pitá tvameva
Tvameva bandhushcha sakhá tvameva
Tvameva vidyá draviṇam tvameva
Tvameva sarvam mama devadeva.

हे मनुष्य! तुम अपने परम-बन्धु के इस प्राणदत्त प्रेम की उपेक्षा नहीं करो। उनके किसी भी दान को व्यर्थ न होने दो। एक बार स्थिर चित्त होकर उनकी बातों पर ध्यान दो। उन्होंने तुम्हारे लिए कितना क्या किया है, कितना कर रहे हैं और कितना क्या करने के लिए तैयार हैं। हे मनुष्य, तुम उन्हें नहीं भूलो।

साधक साधना के पथ पर जब कुछ आगे बढ़ते हैं, तब उनके चित्त में उनका माधुर्य प्रकट से प्रकटतर होता जाता है। इसी प्रेम भाव से उनका मन, प्राण विभोर हो उठता है। आनन्द तरंग उनके चित्त को उद्वेलित करने लगती है। भावों की गभीरता से उनकी वाक्शक्ति स्तब्धीभूत हो जाती है और उस अवस्था में उनके आवेग-चञ्चल ओष्ठ से, रोमां-

चित शरीर से, अश्रु प्लावित नेत्रों से एक ही निःशब्द वाणी उद्गीत हो ती है— वह वाणी है— एकान्त भाव से आत्म-समर्पण की वाणी, उनके ऊपर परम निर्भरशीलता की वाणी,—

'ब्रह्म कृपाहि केवलम्'

Brahma krpa hi kevalam.

(आचार्य सुशीलचन्द्र के निकट कथित—मार्च १९५५)